Year - 2015 Vol. 2, No. 3 Issue: March 2015

Van Sangyan

A monthly open access e-magazine

Tropical Forest Research Institute
(Indian Council of Forestry Research and Education)
PO RFRC, Mandla Road, Jabalpur – 482021

Van Sangyan

Editoriral Board

Patron:	Dr. U. Prakasham, IFS
Vice Patron:	P. Subramanyam, IFS
Chief Editor:	Dr. N. Roychoudhury
Editor & Coordinator:	Dr. Naseer Mohammad
Assistant Editor:	Dr. Rajesh Kumar Mishra

Note to Authors:

We welcome the readers of Van Sangyan to write to us about their views and issues in forestry. Those who wish to share their knowledge and experiences can send them:

by e-mail to vansangyan_tfri@icfre.org

or, through post to The Editor, Van Sangyan,
Tropical Forest Research Institute,
PO-RFRC, Mandla Road,
Jabalpur (M.P.) - 482021.

The articles can be in English, Hindi, Marathi and Oriya, and should contain the writers name, designation and full postal address, including e-mail id and contact number.

TFRI, Jabalpur houses experts from all fields of forestry who would be happy to answer reader's queries on various scientific issues. Your queries may be sent to The Editor, and the expert's reply to the same will be published in the next issue of Van Sangyan.

From the Editor's desk

Among the sericigenous insects, tasar silk is generated by the silkworm, Antheraea mylitta, which mainly thrive on the food plants Arjun, Asan and Sal. The rearings are conducted in nature on the trees in the open. In India, tasar silk is mainly produced in the states of Jharkhand, Chattisgarh and Orissa, besides Maharashtra, West Bengal and Andhra Pradesh. Tasar culture is the main stay for many a tribal community in India. Tasar is copperish colour, coarse silk mainly used for furnishings and interiors. It is less lustrous than mulberry silk, but has its own feel and appeal.

This issue of Van Sangyan contains an article on Tasar sericulture, silk production, diseases and pests, and their control. There are also useful articles on Depleting natural resources and need of biodiesel, Social forestry and forest based industry, Detoriation of medicinal seeds due to environmental affect and its management, Biodiversity conservation, Diversity in seeds of medicinal plants, Mahua as livelihood option of tribals, Spine gourd in forest ecosystem and biodiversity of Sypheotides indica and Aythya nyroca.

I hope that you would find all information in this issue relevant and valuable.

Readers of Van Sangyan are welcome to write to us about their views and queries on various issues in the field of forestry.

Looking forward to meet you all through forthcoming issues.

Dr. N. Roychoudhary

Scientist G & Chief Editor

Contents Page

1.	कीड़ों से रोजगार: पर्यावरण मित्र रेशम कीट पालन एवं उत्पादनः भाग तीन – वन तसर रेशम - डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी	1
2.	Depleting natural resources and need of biodiesel - Vikas Kimar	14
3.	सामाजिक वानिकी एंव वनाधारित उद्योग - ममता मेश्राम	19
4.	Detoriation of medicinal seeds due to environmental affect and its management - Prof. Seema Bhaskar	24
5.	जैव विविधता का संरक्षण एवं संबर्धन: सुजाग्रति समाज सेवी का एक सार्थक प्रयास- जाकिर हुसैन	31
6.	Biological Diversity: Seeds of medicinal plants - Neelu Singh, D.C.Kori and K.C.Choudhary	35
7.	महुआः आदवासियों के जीवकोपार्जन का एक महत्वपूर्ण साधन - ड़ा. ननिता बेरी	40
8.	Spine gourd *Momordica dioica* (Roxb. ex. eild) – The vegetable fruit in component of forest ecosystem - P.B. Meshram	44
9.	Know Your Biodiversity - Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram	49

कीड़ों से रोजगार: पर्यावरण मित्र रेशम कीट पालन एवं उत्पादन

भाग तीन: वन तसर रेशम

डॉ. राजेश कुमार मिश्रा, डॉ. नसीर मोहम्मद एवं डॉ. एन. रॉयचौधरी
उष्णकटिबंधीय वन अनुसंधान संस्थान, जबलपुर

सदियों से लोगों के दिलों पर राज करने वाला सिल्क पहनने वाले के व्यक्तित्व में चार चांद लगा देता है। इसी महत्त्व के कारण यह कभी चलन के बाहर नहीं होता है। सिल्क एक ऐसा सदाबहार फैब्रिक है, जो न सिर्फ महिलाओं की पहली पसंद है बल्कि पुरुषों में भी इस का आकर्षण कम नहीं है। सिल्क जैसी गरिमा, लावण्य और खूबसूरती किसी और कपड़े में नहीं है। प्राकृतिक एवं पर्यावरण मित्र होने के कारण यह अन्य कृत्रिम कपड़ों से बेहतर है। एक समय था जब सिल्क केवल रईसों की ही पहुंच में था, पर 1990 के शुरुआती दौर में सैंडवाश्ड सिल्क के आगमन ने इसे मध्यवर्गीय लोगों तक पहुंचा दिया है। सिल्क के क्षेत्र में कई प्रयोग भी किए गए और इसे कौटन, लिनेन, ऊन और यहां तक कि पोलिस्टर के साथ भी मिश्रित किया गया। इस प्रकार बने कृत्रिम फैब्रिक्स को लोकप्रियता भी मिली। सिल्क यानी रेशम, रेशमकीट द्वारा निर्मित कोसों के तंतुओं से तैयार होता है। प्राकृतिक चमक-दमक, रंगाई के लिए अनुकूल, हल्का, जाड़े में गरमी तथा ग्रीष्म में ठंडक पहुंचाना, उत्कृष्ट वस्त्र विन्यास आदि इस के कुछ विशेष गुण हैं। रेशम कीटों से रेशम प्राप्त करना एक बेहद लंबी व जटिल प्रक्रिया है। रेशम कीट एक विशेष किस्म के कागज पर अंडे देते हैं। उन अंडों में से निकलने वाले कीड़ों को ताजा शहतूत की पत्तियां खिला कर पाला जाता है. लगभग 35 दिनों बाद ये कीड़े अपने चारों तरफ एक खोल बनाना शुरू करते हैं। जब खोल पूरी तरह बन जाता है तो कीड़ा इसी में बंद हो जाता है। फिर इन कीड़ों को मार कर ऊपरी खोल से रेशम प्राप्त किया

जाता है।1 किलो ग्राम सिल्क बनाने के लिए 3,000 रेशमकीटों द्वारा लगभग 104 किलोग्राम शहतूत की पत्तियां खाना आवश्यक है। हर रेशम शहतूत भोजी रेशमकीटों से उत्पन्न नहीं होता। गैर शहतूती रेशम की भी व्यापक श्रेणी है। कुछ प्रमुख किस्म के रेशम हैं शहतूत, तसर, एरी तथा मूंगा। शहतूत रेशम हलका तथा बेहद मुलायम होता है तथा बाजार में उपलब्ध रेशम के अधिकांश उत्पाद इसी से तैयार किए जाते हैं, वहीं तसर, एरी तथा मूंगा वन्य रेशम की श्रेणी में आते हैं।

भारत के लगभग हर प्रदेश में सिल्क पर बुनाई करने वाले कारीगर उपलब्ध हैं । कांचीवरम, वाराणसी, मैसूर धर्मावरम आदि भारत के पारंपरिक रेशम बुनाई केंद्र हैं तथा इन स्थानों पर बनने वाली साड़ियां अपनी उत्कृष्ट कारीगरी के लिए विख्यात हैं। पुरुषों में भी सिल्क की शर्ट, टाई व स्कार्फ का खासा क्रेज है। एक साधारण से सूट के साथ पहनी गई सिल्क की टाई व शर्ट व्यक्तित्व में चार चांद लगा देती है। आजकल घर

की साजसज्जा में भी सिल्क का बहुत चलन है । सिल्क के परदे, कुशन कवर, बेडे कवर, बेड शीट्स, टौप कवर, टेबल क्लाथ विभिन्न डिजाइनों व कीमतों में उपलब्ध हैं। सिल्क की धुलाई के लिए कठोर जल व डिटरजेंट का इस्तेमाल नहीं करना चाहिए । इसे ड्राईक्लीन कराना ही सब से अच्छा विकल्प है, पर कच्चा सिल्क, चाइना सिल्क, इंडिया सिल्क, पोंगी, शांतुंग, तसर आदि को घर पर ही धोया जा सकता है। धुलाई के बाद कपड़े को एक टौवल में लपेट देना चाहिए ताकि इस में से अतिरिक्त नमी निकल जाए । सिल्क को हमेशा छाया में ही सुखाना चहिए। अंतिम धुलाई के लिए ठंडे पानी में सिट्रिक या एसिटिक अम्ल की कुछ बूंदें मिलाना चाहिए । प्रेस करते समय प्रेस का तापमान सिल्क पर सेट करना आवश्यक है तथा प्रेस करने से पहले इस पर पानी नहीं छिड़कना चाहिए अन्यथा कपड़ों पर पानी के धब्बे आ जाते हैं। यदि कपड़ा गीला है तो उसे उलटा कर के प्रेस करना चाहिए। सिल्क के वस्त्रों को सूती कपड़े में लपेट कर रखने पर ये ज्यादा समय तक सुरक्षित रहते हैं । इन्हें कभी भी प्लास्टिक की थैली या बक्से में नहीं करना चाहिए । इससे ये पीले पड़ जाते हैं या फिर इन में कीड़े लग जाते हैं । थोड़ेथोड़े समय बाद इन की तह खोल कर उलटी पलटी करते रहना चाहिए। सिल्क वस्त्रों के बीच में सिलिका की पुडिया रखना आवश्यक है और लकड़ी से सीधे संपर्क में भी नहीं रखना चाहिए। यदि आप ने काफी समय तक सिल्क के वस्त्र नहीं पहने हैं तो उन्हें हवा में फैलाकर और हल्के हाथों से ब्रश करना चाहिए। सिल्क चूंकि अन्य वस्त्रों के मुकाबले महंगा होता है। अत: इसे हमेशा किसी अच्छी व विश्वसनीय दुकान से ही खरीदना उचित होता है। इस की शुद्धता हेतु सिल्क मार्क का ध्यान रखना चाहिए।

पर्यावरण के संकट से बचने में कोकून उत्पादन का महत्वपूर्ण स्थान है । तसर उद्योग घरेलू रोजगार की दिशा में एक सार्थक प्रयास है । झारखंड के आदिवासियों की जिंदगी में रेशम उद्योग ने अहम भूमिका निभाई है । झारखंड के आदिवासी के जीवन शैली का हिस्सा रहा है वन। झारखंड की तीस जनजातियां तसर उपजाने में लगी हैं। रेशम

उत्पादन में झारखंड देश में तीसरा स्थान रखता है । लगभग साठ हजार कीट पालक रेशमदूत के रूप में अपनी आजीविका चला रहे हैं । कृषि आधारित उद्योग से लाखों परिवार को रोजगार मिला है । झारखंड में साल और आसन के पेड़ बड़ी मात्रा में पाये जाते हैं । इन्हीं पेड़ों पर रेशम के कीटों का भोजन मिलता है । राज्य में 75 हजार करघे चल रहे हैं । इनमें रेशम के धागे से कपड़े बुने जा रहे हैं । तसर उद्योग से किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार हो रहा है । तसर उद्योग पर्यावरण के लिए अनुकूल है । पूरे देश में रेशम दूत का आधा हिस्सा झारखंड से है । रेशम की मांग अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर है । तसर वस्त्रो का निर्यात भी झारखंड से होता है । इस निर्यात के माध्यम से प्रतिवर्ष झारखंड सरकार को पचास करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है । रेशम उद्योग आज नई ऊचाइयों को छू रहा है । झारखंड में इको रेस के तसर सर्वाधिक पाये जाते हैं । अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में झारखंड सिल्क को कूचाई सिल्क के नाम से जाना जाता है । झारखंड के रेशमी कपड़े दिल्ली, मुम्बई एवं बैंगलुरू में झारखंड सिल्क इम्पोरियम के माध्यम से बेचे जा रहे हैं । अब तो पूरे देश के हवाई अड्डों पर सिल्क इम्पोरियम खोले जाने की योजना है । झारखंड सरकार ने हैंडलूम एवं हैण्डीक्राफ्ट निर्यात कारपोरेशन, भारत सरकार से एमओयू किया है । नई दिल्ली स्थित 'कैनीड प्वांइट' नामक संस्था के साथ एक करोड़ का व्यापार सरकार ने किया है । झारखंड में आर्गेनिक सिल्क बन रहा है । आज रेशम उद्योग में रोजगार के अवसर बढ़े हैं । भारतीय परिधानों में रेशम से बने वस्त्र लंबे अरसे से लोकप्रिय रहे हैं । तेजी से विकसित फैशन

उद्योग में भले ही बदलावों का बोलबाला है, लेकिन आज भी रेशमी परिधानों की यहां अपनी जगह है । इससे संबंधित कोर्स भी कई संस्थानों में उपलब्ध हैं, जहां से पढाई करने के बाद युवा नौकरी या स्वरोजगार की तरफ रुख करते हैं। यही कारण है कि विज्ञान विषय के छात्रों के बीच यह पाठयक्रम काफी लोकप्रिय है । रेशम उत्पादन में भारत का दूसरा स्थान है। ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत बडी जनसंख्या इस रोजगार से जुडी है । यदि छात्र की रुचि इस क्षेत्र में है और बेहतर भविष्य की तलाश में हैं, तो सेरिकल्चर उनके लिए बेहतरीन कॅरियर विकल्प हो सकता है ।

कच्चे रेशम के निर्माण के लिए रेशम के कीडों का बडे पैमाने पर उत्पादन और पालन सेरिकल्चर कहलाता है । इस शब्द का निर्माण ग्रीक शब्द सेरिकोस और अंग्रेजी शब्द कल्चर से हुआ है । सेरिकोस का अर्थ रेशम एवं कल्चर का संवर्धन (विकास) होता है। आज का दौर व्यापारिक दौर है और इस दौर में सेरिकल्चर का संबंध केवल रेशम के कीडों से ही संबंधित नहीं रह गया है। इसमें कई अन्य चीजों की जानकारी भी जरूरी हो गई है जैसे शहतूत की खेती और संवर्धन, कृमिकोष टेक्नोलॉजी आदि।

जिन लोगों की रुचि विज्ञान में है, उनके लिए यह क्षेत्र उपयोगी साबित हो सकता है। ग्रामीण क्षेत्रों के वे छात्र जिन्हें कृषि की जानकारी होती है, वे अपने इस ज्ञान का लाभ सेरिकल्चर के क्षेत्र में उठा सकते हैं। किसी भी दूसरे काम की तरह इस काम में भी धैर्य, समर्पण और सहनशक्ति सफलता का मार्ग प्रशस्त कर सकते है। सेरिकल्चर कुटीर उद्योग के अंतर्गत आने वाला क्षेत्र है। सरकार कई ऐसी योजनाएं चला रही है, जिससे कुटीर उद्योगों को लाभ मिल रहा है। ग्रामीण क्षेत्रों का यह एक प्रमुख व्यवसाय है। अर्थव्यवस्था में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान है। आप चाहें तो स्वरोजगार भी कर सकते हैं। कम पूंजी में अधिक लाभ, सेरिकल्चर की विशेषता है और इस विशेषता के कारण ही अब शहरों में भी लोग इस व्यवसाय की ओर आकर्षित हो रहे हैं । इसकी अच्छी जानकारी हासिल करने के बाद एक सलाहकार के रूप में भी काम कर सकते हैं । सेरिकल्चर के क्षेत्र में नौकरी और स्वरोजगार दोनों के लिए पर्याप्त अवसर हैं। इसमें तकनीकी योग्यता हासिल कर लेने के बाद इस क्षेत्र में काम कर रही कंपनियों के साथ प्रोजेक्ट मैनेजर, असिस्टेंट डायरेक्टर, रिसर्च ऑफिसर, मार्केटिंग ऑफिसर, सुपरवाइजर, लैब असिस्टेंट, फार्म टेक्नीशियन आदि के रूप में काम कर सकते हैं । जिन लोगों के पास इस क्षेत्र में काम करने का कुछ वर्ष का अनुभव है उन्हें बडी कंपनियों में अवसर आसानी से मिल जाते हैं। सेरिकल्चर में प्रशिक्षित, एक शिक्षक के रूप में भी काम कर सकते हैं । इसमें एम एस सी सेरिकल्चर एवं एमएससी सेरिकल्चर टेक्नोलॉजी की योग्यता रखने वाले विद्यार्थियों को लाभ मिलता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि जिनकी रुचि इस क्षेत्र में है और बेहतर भविष्य की तलाश में हैं, जहां नौकरी के साथ-साथ स्वरोजगार का भी विकल्प मिले, तो यह क्षेत्र सबसे उत्तम है।

एक अनुमान के मुताबिक, भारत में तकरीबन चालीस लाख लोग रेशम उत्पादन से जुडे हैं, वहीं लगभग डेढ लाख लोग रेशम धागाकरण से। उत्पादन का अस्सी प्रतिशत अकेले हैंडलूम क्षेत्र द्वारा उपयोग में लाया जाता है। बाकी बीस प्रतिशत का उपयोग विभिन्न राज्यों के छह हजार पावरलूम द्वारा । अभी तक सिल्क उत्पादन में जापान और चीन का ही प्रभुत्व रहा है। ये दोनों देश मिलकर आज भी तकरीबन पचास प्रतिशत

सिल्क का उत्पादन करते हैं। भारत में प्रशिक्षित युवाओं के इस क्षेत्र में आने से इसके उत्पादन में इजाफा हो रहा है । तसर एवं इरी सिल्क के मामले में देश अग्रणीय है । भारत में एक ओर जहाँ रेशम उत्पादन की अपार सम्पदा के साथ साथ पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं वहीं दूसरी ओर तसर उत्पादित वस्तुओं एवं वस्त्रों की विदेशों में माँग में निरन्तर वृद्धि हो रही है। देश में उपलब्ध संसाधनों का उपयोग करके आदिवासियों की इस पुरातन परम्परा में विशिष्ट परिवर्तन करके इसे उद्योग का स्वरूप प्रदान किया गया है । आज आवश्यकता इस बात की है कि इसे सुनियोजित तरीके से उनके रहन सहन को प्रभावित किये बिना उपयोग किया जाना चाहिए ताकि इस उद्योग का संतुलित विकास किया जा सके।

हमारा देश विविध वातावरण एवं पर्यावरण से समृद्ध होने के कारण तसर रेशम उत्पादन में सम्पन्न है। यहाँ जलवायु के आधार पर दो प्रकार के रेशम का उत्पादन किया जाता है । गर्म जलवाययु में पाली जानेवाली तसर को उष्णकटिबंधीय तथा शीत जलवायु में पाली जाने वाली प्रजाति को शीतोष्ण कटिबंधीय तसर कहा जाता है । उष्णकटिबंधीय तसर को ट्रॉपिकल तसर के नाम से भी जाना जाता है जो कि एन्थीरिया माइलिट्टा नामक कीट प्रजाति से बनता है । उष्णकटिबंधीय तसर उत्पादन करने वाले क्षेत्र की जलवायु आर्द्र होती है। यह तसर मुख्य रुप से दो प्रकार से पाया जाता है। 1. साल वृक्ष आधारित तथा 2. टर्मिनेलिया वृक्ष आधारित

शीतोष्ण तसर को टेम्परेट तसर भी कहा जाता है जो कि ए. प्रॉयली नामक कीट से बनता है । इस तसर से उत्पादित धागा, उष्णकटिबंधीय तसर सए उत्पादित धागे से महीन होता है।

भारत एक कृषिप्रधान देश है तथा इसकी अधिकांश आबादी ग्रामीण क्षेत्रों में निवासरत होकर मुख्यतः आजीविका के लिए कृषि तथा वनों पर ही निर्भर है। गाँवों में बढ़ती आबादी तथा रोजगार के कम होते अवसर से गाँवों से शहरों की ओर पलायन होता है। इस पलायन को रोकने के लिए गाँवों में ही उपलब्ध जल, जंगल और जमीन का उपयोग करना आवश्यक है ताकि गाँवों में ही रोजगार के साधन उपलब्ध हो सकें। तसर रेशम उद्योग ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध कराने तथा क्षेत्र के विकास में एक बेहतर विकल्प साबित हो सकता है।

तसर रेशम कृमि के प्रमुख भोज्य पौधे साज, अर्जुन आदि पर कृमिपालन करके अतिरिक्त आय प्राप्त की जा सकती है। वृक्षों की इसी उपयोगिता के कारण तसर कृमिपालक न तो इन्हें काटते हैं न ही किसी को काटने देते हैं अपितु इन्हें संरक्षित

रखते हैं। इस प्रकार रेशम उद्योग वनों के संरक्षण में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है । तसर खाद्य वृक्षों जैसे अर्जुन, साजा का वृक्षारोपण विशेष विधी अपनाकर बंजर भूमि में किया जा सकता है इससे भूमि का क्षरण रुकता है, भू-जल स्तर बढ़ता है तथा भूमि की उर्वरा शक्ति बढती है । इस प्रकार बंजर भूमि में सुधार होता है। इससे जैव विविधता को बढ़ाने में सहायता मिलती है।

जैव और अजैव घटकों के बीच समुचित संतुलन को पर्यावरण संतुलन कहा जाता है । बढ़ते आधुनिकीकरण के युग में ये दोनों घटक काफी प्रभावित हुए हैं। तसर रेशम उद्योग पर्यावरण संतुलन में सहायक होता है क्योंकि इसमें वृक्षारोपण किया जाता है। पौधे वायु को शुद्ध करने में भी सहायक होते हैं । कोसा कृमिपालन का कार्य वनों के आस पास रहनेवाले मुख्यतः आदिवासी समुदाय द्वारा किया जाता है जो अपने जीवन यापन के लिये मुख्यतः वनोपज के संग्रहण और उसके उपयोग पर निर्भर होते है । इस उद्येश्य से तसर रेशम उद्योग इनके लिए काफी लाभदायक है। आदिवासी समुदाय के सदस्यों के पास कृषि योग्य भूमि अत्यंत कम होती है तथा जो उपलब्ध होती है वह असिंचित तथा अनुर्वरक होती है इसलिए वे स्वयं तसर खाद्य वृक्षों का पौधारोपण न करते हुए वनों में उपलब्ध अर्जुन, साजा पौधों पर कोसा कृमिपालन का कार्य करते हैं । इसके साथ ही वनों से नैसर्गिक रूप से उत्पादित तसर कोसा का संग्रहण भी करते है ।

तसर रेशम कीट का जीवन चक्र

तसर कृमि के अण्डा से मॉथ तक तसर रेशम कृषि का जीवन चक्र विकास की एक अनुभूत कहानी है । तसर रेशम कृमि एक होलोमेटाबोलस कृमि है जो अपना शरीर अनेक रूपों में बदलता है । इसका जीवन चक्र चार अवस्थाओं में अण्डा, लारवा (इल्ली), संखी (प्यूपा) तथा शलभ (मॉथ) से पूरा होता है । तसर रेशम कृमि वर्ष में 2-3 जीवन चक्र पूरा करते है अर्थात इसका एक वर्ष में दो –तीन बार कृमिपालन कर कोसा प्राप्त किया जा सकता है।

तसर रेशम की चीन की तसर प्रजाति विश्व में सबसे अधिक रेशम उत्पादन करने वाली प्रजाति है। इसके अलावा जापान की तसर प्रजाति तथा तथा भारत की तसर प्रजाति होती है। चीन तथा जापान की तसर कीट प्रजातियाँ मुख्यतः ओक पौधों की पत्तियाँ खाती हैं जबकि भारत की तसर कीट प्रजातियाँ टर्मिनेलिया तथा अन्य पौधों की पत्तियाँ खाती है।

तसर रेशम कृमि एक बहुभक्षी कृमि है अर्थात वह अनेक प्रकार की पत्तियाँ खाकर अपना जीवन निर्वाह करता है। इस कृमि का मुख्य भोजन साज तथा अर्जुन पौधों की पत्तियाँ हैं। इन पत्तियों को खाकर वह उच्च कोटि का रेशम उत्पादन करता है इसलिये इसे प्रमुख खाद्य पौधा भी कहा जाता है । इसके अतिरिक्त यह कृमि साल, सिद्धा, जामुन, बेर आदि अनेक पौधों की पत्तियाँ भी खाता है जिन्हें सहायक खाद्य पौधा कहा जाता है लेकिन

इन पर पोषित कृमि द्वारा उत्पादित रेशम की गुणवत्ता कम होती है। व्यावसायिक कृमिपालन की दृष्टि से साजा तथा अर्जुन पौधों की पत्तियाँ ही तसर रेशम कीट का मुख्य आहार पौधा है। इसका पौधारोपण सघन रूप से विकसित किया जा सकता है जो कृमिपालन की दृष्टि से उत्तम है। वन क्षेत्रों में साल वृक्षों के अलावा अन्य पौधों पर भी तसर रेशम प्राकृतिक रूप से काफ़ी संख्या में उत्पादित होते है । रेशम उत्पादन की दृष्टि से अर्जुन, साल ज्यादा उपयुक्त माना गया है क्योंकि इसमें अधिक पोषक गुण होते हैं। तसर रेशम कृमि मुख्य भोज्य पौधों के अभाव में सहायक भोज्य पौधों की पत्तियाँ खाते हैं लेकिन इस पर पाले जाने से तसर कृमि कोसा या कोकून बनाने के पूर्व ही अधिकांशतः या तो मृत हो जाते हैं या फिर उनकी लारवा की अवधी बढ़ जाती है। रेशम भी अच्छा नहीं बनता है जिसके फलस्वरूप कृमिपालक को कम लाभ प्राप्त होता है। अतः सहायक खाद्य पौधों पर कृमिपालन करना व्यावसायिक दृष्टि से लाभदायक नहीं होता है। तसर कृमिपालन का कार्य व्यावसायिक रूप से साजा तथा अर्जुन के पौधों पर ही किया जाता है जो उष्णकटिबंधीय वनों में बहुतायत में पाये जाते हैं। वनों में प्राकृतिक रूप से उपलब्ध साजा तथा अर्जुन के पौधों का वितरण होता है तथा वे विभिन्न आकार तथा प्रकार के होने के कारण उनकी पत्तियो की मुलायमता, परिपक्वता तथा गुणवत्ता में जगह जगह अंतर पाया जाता है। इस कारण इन पर व्यवस्थित कृमिपालन नहीं हो पाता है। वृक्ष की पत्तियाँ समाप्त हो जाने पर कृमियों का अन्य वृक्षों पर स्थानांतरण भी कठिन हो जाता है। कृमिपालन के दौरान यदि पर्याप्त सावधानी नहीं रखी जाती है तो कृमि भोजन जनित रोग से ग्रस्त होकर मृत हो जाते हैं या रेशम कम उत्पादित करते हैं। उपरोक्त समस्याओं को दूर करने हेतु सघन पौधारोपण प्रणाली की विधी विकसित की गई है। इसकी सहायता से पत्ती उत्पादन में सुधार के साथ इस पर नियंत्रित कृमिपालन भी सरलता से किया जा सकता है। इससे रेशम उत्पाद में वृद्धि होती है तथा कृमिपालक को अधिक आय प्राप्त होती है। अर्जुन तथा साजा पौधों पर कृमिपालन करने से रेशम उत्पादन लगभग बराबर ही होता है इनमें अंतर यह है कि अर्जुन पौधों की वृद्धि दर तीव्र होती है तथा वह तीन चार वर्षों में ही कृमिपालन हेतु तैयार हो जाते है जबकि साजा पौधों की वृद्धी दर काफी धीमी है तथा वह चार पाँच वर्षों में ही कृमिपालन हेतु तैयार हो पाते है ।

अर्जुन तथा साजा पौधों का रोपण सभी प्रकार की भूमि तथा जलवायु में किया जा सकता है। इसके लिए हल्की बालुई मिट्टी जो थोड़ा अम्लीय हो अधिक उपयुक्त होती है। लाल मुरुम वाली भूमि तथा काली मिट्टी भी उपयुक्त होती है। यह पौधे अम्लीय भूमि में आसानी से उगते है।

इन पौधों का कायिक प्रजनन गूटी विधी द्वारा किया जाता है। इसमें मातृ पौधे की एक से डेढ़

मीटर लम्बी अंगुली की मोटाई की शाखा जिस स्थान पर मुख्य शाखा से जुड़ी होती है उसके सिरे में आधा से एक सेमी. की छाल इस प्रकार से निकालते है कि जाईलम ऊत्तक को क्षति ना पहुँचे । इस छिले हुए भाग के अगले सिरे को सिराडिक्स बी 3 के घोल से उपचारित करके मिट्टी, गोबर तथा काई के गीळे सम्मिश्रण से लपेटकर पॉलीथिन से ढंक कर बांध देते है । एक से डेढ माह में कृत्रिम जड़ दिखाई देने लगती है । इस समय गूटी को मातृ वृक्ष से पृथक कर प्रक्षेत्र में प्रत्यारोपित कर सकते है ।

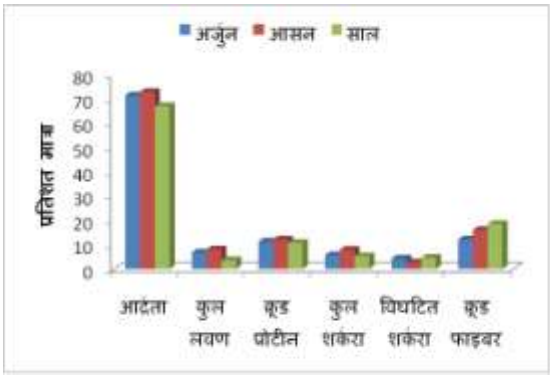

तसर रेशम कृमि के खाद्य पौधों के पोषक गुण

तसर खाद्य पौधों अर्जुन तथा साजा का प्रबंधन मुख्यतः बीज द्वारा किया जाता है । बीज द्वारा द्वारा प्रजनन की विधी सबसे आसान है इसमें सबसे पहले नर्सरी पौध तैयारा की जाती है तथा इससे प्राप्त पौधों को खेत में लगाया जाता है । अर्जुन तथा साजा का बीज कड़े आवरण से घिरा रहता है जिसमें अंकुरण धीरे धीरे अनियमित तथा कम होता है । अतः बीज में अंकुरण बढ़ाने तथा नर्सरी में स्वस्थ पौधा तैयार करने के लिए पॉलीथीन में पौधे तैयार करने के लगभ तीन माह पश्चात पौधारोपण प्रक्षेत्र में प्रतिरोपित किया जाता है ।

प्रमुख बीमारियाँ एवं उनका नियंत्रण

तसर रेशम कृमि के मुख्य खाद्य पौधों अर्जुन तथा साजा को अनेक प्रकार की बीमारियाँ प्रभावित करती है । इससे पौधों की पत्तियों की गुणवत्ता के साथ साथ उनकी उत्पादकता में भी कमी आ जाती है जिससे वे तसर कीट पालन के लिए उपयुक्त नहीं रह पाती है । इसके परिणामस्वरूप कीटपालन क्षमता में कमी आ जाती है । इनमें प्रमुख रूप से निम्न बीमरियाँ प्रभाव डालती है ।

चूर्णित आसिता (पाउडरी मिल्ड्यू): अर्जुन तथा साजा पौधों में पाउडरी मिल्ड्यू बीमारी फाइलेक्टीनिया टर्मिनेली नामक फफूँद से आती है । अक्टूबर –नवम्बर माह में इस बीमारी से प्रभावित पौधों की पत्तियों की निचली सतह पर सफ़ेद पाउडर जैसे धब्बे दिखाई देते है जो धीरे धीरे काले धब्बों में परिवर्तित हो जाते है । इसके बाद प्रभावित पत्तियाँ पीली पड़कर सूख जाती है । इस रोग के नियंत्रण हेतु 0.03ज्ञ कैरथेन या 0.2ज्ञ सल्फेक्स का 8.5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से दस देन के अंतराल पर तीन बार करना चाहिए ।

काली करधनी गाँठ रोग (ब्लेक नोडल गर्डलिंग): यह बीमारी अर्जुन तथा साजा की पत्तियों पर बेसिडियोमाइसिस कुल की फफूँद यूरिडो टर्मिनेली द्वारा होती है । सितम्बर माह में पौधों की शाखाओं में पत्ती निकलने वाली गाँठे काली

पड़ने लगती है । इसके बाद पूरी पत्ती काली पड़ जाती है तथा वह कृमि के खाने के लिए अनुपयोगी हो जाती है । इससे लगभग दस प्रतिशत पत्तियों का नुकसान होता है । इस बीमारी से प्रभावित पत्तियों को तोड़कर अलग कर देना चाहिए । 0.02 बावेस्टीन दवा का छिड़काव पन्द्रह दिन के अंतराल में करना चाहिए।

पर्ण चित्ती (लीफ स्पॉट): यह बीमारी मुख्यतः साजा की पत्तियों पर पेस्टेलोसियोप्सिस पायेरम फफूंद जो अल्टरनिरिया प्रजाती के अंतर्गत आते है से आती है । इसका प्रकोप वर्षा ऋतु में अधिक दिखाई देता है । प्रभावित पौधों की पत्तियों की निचली सतह पर सफेद पीले धब्बे तथा ऊपरी सतह पर गहरे भूरे रंग के चकत्ते पड़ जाते है तथा बाद में प्रभावित पत्तियाँ झड़ जाती है । इससे लगभग दस प्रतिशत पत्तियों का नुकसान होता है । इसकी रोकथाम हेतु 0.05% ब्लाइताक्स या 0.15 प्रतिशत जिनेब या बोरिडियाक्स का मिश्रण छिड़कना चाहिए ।

पर्ण कुंचन (लीफ कर्ल): यह बीमारी भूमि में कॉपर तत्व की कमी से होती है । अधिक वर्षा होने पर अर्जुन तथा साजा की मुलायम पत्तियाँ मध्य सिरे से जुड़कर नाव के आका र की हो जाती है । हवा के झोकों के साथ ये पत्तियां शाखाओ पर झूलती नजर आती है तथा धीरे-धीरे कड़ी होकर अंत में सूखकर गिर जाती है । इससे प्रभावित पौधों की लगभग तीस से चालीस प्रतिशत पत्तियां कृमिपाल के योग्य नही रह जाती हैं । इसकी रोकथाम हेतु पौधों पर कीटनाशक का छिड़काव कर इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है । 125 पी. पी. एम. तूतिया घोल (कॉपर सल्फेट), 0.5 प्रतिशत कॉपर आक्सीक्लोराइड का छिड़काव करने से इसे सत्तर से अस्सी प्रतिशत तक नियंत्रित किया जा सकता है ।

पौधों का आर्द्र पतन (डेम्पिंग ऑफ़ सीडलिन्स): यह बीमारी पाइथियम अफानोडेरमटम के कारण होती है तथा इससे नर्सरी के पौधों को ज्यादा क्षति पहुँचती है । इस बीमारी के कारण बीज के पत्रों की ऊपरी सतह पर काले रंग के धब्बे पड़ जाते है जो बाद में पूरी पत्ति पर फैल जाते हैं । इसमें प्रांकुर में जलने जैसे लक्षण दिखाई देते है । इससे अर्जुन के पौधों को बीस से तीस तथा साजा के पौधों को तीस से पैंतीस प्रतशित तक नुकसान होता है । इसकी रोकथाम हेतू पौधारोपण करने के पूर्व कलमों पर 0.2 प्रतिशत मैन्कोजेब के साथ साथ 0.25 प्रतिशत थीरम या 0.02 प्रतिशत सीरेसन या 0.25 प्रतिशत केप्टान फफूंदी नाशक का छिड़काव प्रभावी होता है ।

स्तम्भ प्रणव (स्टेम केन्कर): यह बीमारी एस्कोमाइसिटीसिज कुल के निक्ट्रीन प्रजाति के फफूंद द्वारा फैलती है । इसमें पौधे के तने एवं नई शाखाओं पर ट्यूमर समान वृद्धी विकसित हो जाती है जो धीरे धीरे पूरे तने पर फैल जाती है । इससे प्रभावित होने पर तना एवं शाखाएं ऊपर से नीचे की ओर सूखने लगती है । इसकी रोकथाम हेतु संक्रमित हिस्से की कंटाई- छंटाई करके इस पर नियंत्रण पाया जा सकतता है । प्रभावित भाग पर बोरिडियाक्स मिश्रण चूना, क़ॉपर सल्फेट, पानीः 4, 1, 50 के अनुपात में मिलाकर लगाना चाहिए । इसमें जिन्कॉप 0.3 प्रतिशत का छिड़काव भी प्रभावी होता है ।

<u>रूट रॉट बीमारी</u>: इस बीमारी से प्रभावित साजा पौधों की जड़ें गलने लगती है जिससे पौधा मृत हो जाता है। साथ ही जड़ों को पार्श्व जड़ें कमजोर तथा लम्बी विकसित हो जाती है जिससे संक्रमण और अधिक फैलता है । इसकी रोकथाम हेतू बीमारी से प्रभावित या मृत पौधों को हटाकर जला देना चाहिए। प्रभावित पौधों के चारों ओर ट्रेंच खोदकर इसे अलग किया जाना चाहिए ताकि समीपवर्ती पौधे संक्रमित न हो सकें।

<u>मॉलीब्लडनम की कमी:</u> मॉलीब्लडनम तत्व की कमी होने पर पौधों कि पत्तियां कमजोर हो जाती है । इसे कम करने के लिए अमोनियम मॉली ब्लेडेट डेढ़ से दो किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से पौधरोपित क्षेत्र में डालना चाहिए।

<u>वुड रॉट बीमारी:</u> यह बीमारी कीटोमियम, फाइलोफ्लोरा इत्यादि से होती है । इससे प्रभावित मुख्य तना आधार भाग से सड़ने लगता है। इससे पौधो की शाखाएं सूखने लगती हैं और अन्त में पौधा मृत हो जाता है। इस बीमारी के नियंत्रण के लिए प्रभावित भाग पर बोरिडियाक्स मिश्रण चूना, क़ॉपर सल्फेट, पानीः 4:1:50 के अनुपात में मिलाकर लगाना चाहिए।

<u>लीफ ब्लाइट</u>: यह बीमारी फ्यूजेरियम प्रजाति के फंफूद से होती है । इसमें पत्ती के किनारों के लेमिना पर छोटे-छोटे भूरे से राख के रंग के धब्बे दिखाई देते है । इसके नियंत्रण के लिए 0.5 कॉपर ऑक्सीक्लोराइड या 0.15 प्रतिशत जेनेब या बोरिडिक्स मिश्रण का 4:4:50 के अनुपात में पन्द्रह दिनों के अंतराल पर दो से तीन बार छिड़काव करना चाहिए।

<u>लीफ़ रस्ट:</u> पौधों में यह बीमारी बेसीडोमाइसिस फफूंद से आती है। इसमें पत्ती की ऊपरी सतह पर क्लोरोसिस के समान तथा निचली सतह पर भूरे रंग के धब्बे दिखाई पड़ते हैं। इससे प्रभावित पत्तियाँ सूखकर गिर जाती हैं। इस पर नियंत्रण के लिए 0.2 प्रतिशत सल्फर या 0.2 प्रतिशत मैन्कोजेब का छिड़काव करना चाहिए । तसर खाद्य पौधों की रोकथाम समय समय पर करना अतिआवश्यक है। इनमें लगने वाली बीमारियों का रासायनिक नियंत्रण करने की स्थिति में दवा का छिड़काव किसी कृषि विशेषज्ञ / रेशम विशेषज्ञ के मार्ग दर्शन में किया जाना उचित होता है।

नाशी कीट एवं उनका नियंत्रण

तसर रेशम कृमियों के मुख्य भोज्य पौधों अर्जुन एवं साजा पर अनेक प्रकार के नाशक कीट का प्रकोप समय-समय पर देखा गया है जिससे पौधों की पत्तियों की उत्पादकता एवं गुणवत्ता प्रभावित होती है जिसका सीधा असर तसर रेशम उत्पादन पर पड़ता है। इन नाशक कीटों द्वारा पौधो को पहुँचाये जाने की मात्रा का अनुमान मौसम तथा स्थान के अनुरूप परिवर्तित होता रहता है । नाशक कीटों से पौधों की पत्तियों को सामान्यतः पच्चीस तथा इसके प्रकोप की तीव्रता अधिक होने पर 75 प्रतिशत तक नुकसान पहुँचता है । अतः इन नाशक कीटों का नियंत्रण अति आवश्यक है। तसर खाद्य पौधों को हानि पहुँचाने वाले कुछ प्रमुख हानिकारक कीट एवं उनके नियंत्रण के उपाय निम्न है ।

<u>गॉल कीटः</u> ग़ॉल कीट की अनेक प्रजातियाँ तसर

खाद्य पौधों को नुकसान पहुँचाती है । इनके अर्भक (निम्फ) पत्तियों के ऊतक को भेदकर उसपर अपना जीवन चक्र पूरा करते है । इससे प्रभावित अर्जुन तथा साजा पौधों की पत्तियों की ऊपरी तथा निचली दोनों सतहों पर पीले रंग के चेचक नुमा गाँठ या उभार बन जाते है जिससे उनकी वृद्धी रुक जाती है । उसके पोषक तत्व समाप्त होने लगते है तथा पत्तियों की गुणवत्ता कम होने लगती है जिससे पत्तियों का प्रभावित हिस्सा तसर कृमि के खाने के अनुपयुक्त हो जाता है । इसका प्रकोप मार्च से सितम्बर माह तक रहता है । प्रकोप की सामान्य अवस्था में 15 से 20 तथा अधिक तीव्र होने पर 80 से नब्बे प्रतिशत पत्तियों को नुकसान पहुँचता है । इसके नियंत्रण हेतु तसर खाद्य पौधों की फरवरी –मार्च माह में कटाई-छंटाई के साथ मार्च-प्रैल माह में पौधरोपण क्षेत्र की गुड़ाई करनी चाहिए । मई-जून माह में गॉल कीट से प्रभावित नई पत्तियों तथा जुलाई-अगस्त माह में प्रभावित पुरानी पत्तियो को तोड़कर जला देना चाहिए ताकि संक्रमण ना फैले । पौधों में जब नई पत्तियाँ (मार्च माह के अन्त में) आना शुरु होती हों तब मोनोक्रोटोफॉस 0.09 प्रतिशत या डायमेथोऐट 0.09 प्रतिशत कीटनाशी घोल (1 लीटर पानी में 3 मि. मि. दवा) को पन्द्रह दिनों के अन्तर पर दो से तीन बार छिड़कना चाहिए । इसके अलावा 0.03 प्रतिशत डिमेक्रान या 0.09 प्रतिशत रोगर-30 ईसी (1 लीटर पानी में 30 मि.लि. का घोल) का डेढ़ लीटर घोल प्रति हेक्टेयर की दर से छिड़काव 15 -20 दिन के अंतर पर तीन बार करना चाहिए ।

तना छेदक: अनेक लेपिडीप्टेस तथा कोलिओप्टेरा कीट प्रजातियों के तना छेदक कीट अर्जुन तथा साजा के पौधों के तने को भेदकर इसके रस परिवहन में बाधा पहुँचाते है । जिससे इनको नुकसान होता है । इनमें प्रमुख कीट गोल सिर तना छेदक, चपटा सिर तना छेदक तथा शाखा छेदक है । इसके अतिरिक्त सामान्य स्टेम बोरर भी हैं जिसके लारवा अर्जुन तथा साजा के तनों को छेदकर उन्हें नुकसान पहुँचाते है । स्टेम बोरर कीटों की इल्लियाँ पौधे के तने या शाखाओं में छेदकर भीतर प्रवेश करती हैं जिससे पौधा कमजोर होने लगता है तथा सूख जाता है एवं अन्त में मृत हो जाता है । तना छेदक जिस स्थान पर पौधों को प्रभावित करता है उस स्थान पर तने में छिद्र दिखाई देता है जिसके आस पास काला या भूरा लिसलिसा चिपकने वाला पदार्थ जमा रहता है । सामान्य परिस्थिति में 5 से दस प्रतिशत तथा प्रकोप अधिक होने पर 80 प्रतिशत तक पत्तियाँ प्रभावित होती है । इसका प्रकोप सितम्बर-अक्टूबर माह में होता है । इसके नियंत्रण हेतु इस कीट के वयस्क कीड़ों को

एकत्रित कर नष्ट कर देना चाहिए । पौधों के संक्रमित हिस्सों को खरोंचकर उससे तना छेदक की इल्लियों को एकत्र जर उन्हे नष्ट कर देना चाहिए । अक्टूबर-नवम्बर माह में पौधों के तनों को 10 प्रतिशत गामा बी एच. सी. या मिथाइल पैराथियान तथा चूनेर के घोल को 1:4 के अनुपात में मिलाकर लेप कर देना चाहिए ।

मोनोक्रोटोफॉस 0.07 प्रतिशत या डेमिक्रान या फासफोमिडान 0.05 – 0.09 प्रतिशत घोल या पेट्रोल या केरोसीन को रुई में भिगोकर तार या लकड़ी की सहायता से तना छेदक द्वारा बनाये गये छिद्र में डालकर उसे मिट्टी से बन्द कर देना चाहिए। इसका छिड़काव तने के ऊपर मई-जून माह में करना भी प्रभावी होता है।

पत्ती झाड़क कीट (लीफ डिफॉलिएटर्स): बालयुक्त इल्ली, इस कीट का वैज्ञानिक नाम नोटोलोफस एन्टिक्वा है। इसकी इल्लियों से प्रभावित तसर खाद्य पौधों की पत्तियाँ कटी-फटी देखाई देती है। इसका प्रकोप अप्रैल से नवम्बर माह में दिखाई देता है लेकिन अधिक प्रकोप अगस्त-सितम्बर माह में होता है। इसके सामान्य प्रकोप की अवस्था में आठ से दस प्रतिशत तथा प्रकोप अधिक होने पर 80 प्रतिशत तक पत्तियाँ प्रभावित होती है जिससे कृमिपालन हेतु कम मात्रा में पत्तियां उपलब्ध होती है। इसके नियंत्रण हेतु कंटाई-छँटाई की समय सारणी में परिवर्तन करके इसका नियंत्रण किया जा सकता है। इस कीट के अण्डों को सर्दी के मौसम में तथा इल्लियों को अप्रैल-नवम्बर माह में एकत्र करके नष्ट कर देना चाहिए। 0.01 से 0.02 प्रतिशत नुआन या 0.09 प्रतिशत डायमेथोएट या 0.03 से 0.09 प्रतिशत मैलाथियान कीट नाशक घोल का 15 से 20 दिन के अंतराल पर तीन बार पत्तियों पर छिड़काव करना चाहिए। यह छिड़काव कृमिपालन के प्रारम्भ होने के 20 से 25 दिनों पहले समाप्त हो जाना चाहिए।

गुबरैला (मई जून बीटल): इस कीट का वैज्ञानिक नाम एनामाला ब्लेंकार्डी है। इस कीट से प्रभावित पौधों पर रात में काले भृंग कीट दिखाई देते हैं। इसके द्वारा पत्ती खाने से पत्ती में कटाव दिखाई देता है जिससे पत्ती की गुणवत्ता एवं

उत्पादन दोनों प्रभावित होते है। इस कीट के वयस्क मई- जुलाई माह में दिखाई देते हैं। सामान्य प्रकोप की स्थिति में आठ से दस प्रतिशत तथा प्रकोप अधिक होने पर चालीस प्रतिशत तक पत्तियां प्रभावित होती है। इल्लियों द्वारा पौधों की जड़ खाने से पौधा कमजोर हो जाता है। इनके नियंत्रण हेतु फरवरी-मई तथा जुलाई-अगस्त माह में तसर खाद्य पौधों के चारों ओर हल्की गुड़ाई करके मिट्टी पलटना चाहिए। पैराथियान या गामा बी. एच. सी. 82 किलोग्राम प्रति हेक्टेर्यर या फॉरेट कीटनाशक 2.5 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से मिट्टी में छिड़कना चाहिए। मई-जून माह में रात्रि में पौधारोपण स्थान में रोशनी करके इसके वयस्क कीड़ों को एकत्रित करके मार देना चाहिए। 0.09 प्रतिशत डायमेथोएट कीटनाशक दवा का 10 से 15 दिन के अंतराल पर तीन बार पत्तियों पर छिड़काव करना चाहिए। लाल भृंग गुबरैला: इससे कीट से प्रभावित पौधों पर लाल-भूरे रंग के भृंग दिखाई देते है। इस कीट के द्वारा पत्तियां

खाने से कटाव दिखाई देता है । इसके शिशु कीट द्वारा जड़ों को भी नुकसान पहुँचाया जाता है । इसका प्रकोप जुलाई-अगस्त माह में होता है । सामान्य प्रकोप की अवस्था में सात से आठ प्रतिशत तथा प्रकोप अधिक होने पर 30 से 35 प्रतिशत तक पत्तियों को नुकसान पहुँचता है । इसके नियंत्रण हेतु जुलाई-अगस्त तथा फरवरी-मई माह के मध्य पौधों के चारों तरफ गुड़ाई करके मिट्टी में मिथाइल पैराथियान या गामा बी.एच.सी. 62 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर या फोरेट कीटनाशक 2.5 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से मिलाना चाहिए । जून-नवम्बर माह के मध्य पौधों से कीट को एकत्रित करके मार देना चाहिए । डाइमेथोएट कीटनाशक 0.09 प्रतिशत को पन्द्रह दिन के अंतराल पर तीन बार पत्तियों पर छिड़कना चाहिए।

भूरा घुन (माइलीसिरस): इस कीट का प्रकोप होने पर पौधों पर भूरे रंग के कीट दिखाई देते हैं तथा इससे प्रभावित पत्तियाँ जाल के समान दिखाई देती है । इनका प्रकोप जुलाई-नवम्बर माह में होता है । इससे 15 से 20 प्रतिशत पत्तियों का नुकसान होता है । इस कीट द्वारा पत्तियों का हरा भाग (पर्ण हरित) खाने से वह खाने के अयोग्य हो जाती हैं । इस कीट के शिशु कीट द्वारा पौधों की जड़ों को कुतरने से पौधा कमजोर हो जाता है । इसके नियंत्रण हेतु जून-नवम्बर माह तक प्रौढ़ कीटों को एकत्र कर नष्ट कर देना चाहिए । पौधों के आस पास गुड़ाई करके मिथाइल पैराथियान या गामा बी.एच.सी. 62 किलोग्राम प्रति एकड़ की दर से मिलाना चाहिए । डाइमेथोएट कीटनाशक 0.09 प्रतिशत या 0.2 प्रतिशत नुआन को पन्द्रह दिन के अंतराल पर तीन बार पत्तियों पर छिड़कना चाहिए ।

दीमक (टर्माइट्स): दीमक पौधो के तने को काफी क्षति पहुँचाती है जिससे पौधों की वृद्धि रुक जाती है तथा पौधे मृत हो जाते है । इनके

नियंत्रण हेतु 5 प्रतिशत क्लोरेडेन का छिड़काव 20 किलोग्रम प्रति हेक्टेयर की दर से मिट्टी या पौधो के चारों तरफ करना चाहिए ।

कीटनाशक का प्रयोग कीट विज्ञानी या रेशम वैज्ञानिक की देखरेख में ही करना चाहिए । इसके प्रयोग के पश्चात पौधो पर कृमिपालन, कीटनाशक की सुरक्षा अवधी के पश्चात ही करना चाहिए । कीटनाशक के उपयोग से नाशक कीट को नियंत्रण की अपेक्षा जैविक उपचार अधिक लाभदायक होता है । जैविक उपचार पर्यावरण सामंजस्य में भी सहायक होता है ।

Depleting natural resources and need of biodiesel

Vikas Kimar
Department of Silviculture and Agroforestry, College of Forestry, Vellanikkara
Kerala Agricultural University, KAU, Thrissur, Kerala 680656, India

In this era of increasing effects of the human population on the earth and its resources, resource depletion and exhaustion are not uncommon terms. Resource depletion in the simplest of words is the "exhaustion of raw materials within a region". Further thought and study into this topic gives us a horrific reality check of what is actually happening to the earth and her resources. A few examples are enough to grasp the gravity of the present situation. It has been predicted that oil which runs the whole economy of the country is going to be depleted in another 46.2 years, the gas which we cook within 58.6 years and coal in 118 years. It is high time that we being the most advanced species on Earth realize the after effects of our reckless use of natural resources.

Experts often refer to the two different ends of the environmental problem as sources and sinks. An earlier study emphasized the problem of sources in the form of shortages of raw materials, such as fossil fuels, basic minerals, topsoil, freshwater, and forests (Meadows et al., 1972). Today the focus of environmental concern has shifted more to sinks, as represented by climate change, ocean acidification, and production of toxics. Declining freshwater resources, peak (crude) oil, loss of soil fertility, and shortages of crucial minerals like zinc, copper, and phosphorus clearly show that the depletion of resources used in production remains critical. The main cause of resource depletion all over the world is over consumption and excessive or unnecessary use of resources. Where man has discovered the value of a particular resource he has extensively exploited it sometimes to the extent of it being completely exhausted. With increasing world population, more and more human beings who have their own needs are being born and this doesn't make the situation any better. Also traditional practices like slash and burn agriculture which used to be considered a useful practice for the renewal and replenishment of forests is now being considered as an event leading to the destruction of our forest resources simply due to the increasing human population that practices slash and burn agriculture.

Technological and industrial development have increased raw material requirement in massive amounts and all these raw materials are directly or indirectly derived from the earth's natural resources. Mining for oil and minerals have extinguished the Earths supply of these precious resources that take billions of years to form. Large-scale exploitation of minerals began in the Industrial Revolution around 1760 in England and has grown rapidly ever since. Today's economy is largely based on fossil fuels, minerals and oil. The value increases because of the large demand, but the supply is decreasing. This has resulted in more efforts to drill and search other territories.

Another reason for natural resource depletion is the pollution or contamination of resources which are already present. We all realize very late that a particular resource was valuable and that we could have made proper utilisation of it. But often it is too late to do anything.

A fact that we are discovering very late is that forest is a precious resource. Not only does it provide us timber and other NTFPs (Non-Timber Forest Products) but also it provides us indirect benefits like purification of air, replenishment of the water table, creation of a cool micro climate etc. Even the pollutant nitrogen dioxide (NO_2) is absorbed by the enzyme rich soil and released as harmless nitrogen. Forests release water vapour which rises and forms the clouds. The working Forest Ecosystem, when restored, will correct climate change.

Another resource which is widely discussed is oil. Whether it's in automotives, economics, history, geography or politics, oil has managed to filter into almost every aspect of our daily lives. It's one of the most discussed (and controversial) commodities that consumers rely on daily. The fluctuating prices of oil are enough to convince the common man of the seriousness of the situation. Prices increase, strikes are conducted, prices reduce and then the whole cycle continuous again. The price of oil is actually supposed to be really high as it is a resource which is getting depleted at a fast pace. But due to the whole economy turning topsy-turvy if the prices of oil are increased, that is not happening. It is high time we look into this grave situation that we are all ignorant of. If we continue drilling the earth for oil like we are doing now, the whole landmass of the gulf countries is going to slip. Oil depletion is happening at a fast pace and if we don't act at the right moment which is now we might be losing the major fuel of our economy. If that happens we will be facing a helpless situation where the whole

economy will come crashing down and a rapid inflation will happen. To prevent this we need to think about alternative methods of fuel which are feasible as well as productive and energy efficient. It is necessary for us to think about all kinds of alternate fuels from bio-based fuels and fuel cell technologies to solar energy and wind power. Things like electric cars and hydrogen fuel cells are being talked about as feasible alternatives to oil. In areas where there is a long duration of day hours cars can be run on solar energy which is being practiced in some parts of Africa. Solar charging is a viable business in these areas and it is able to provide services for mobile phone charging, car battery charging and lantern charging. Solar PV (Photo voltaic) offers an alternative to kerosene, diesel generators and dry cell batteries.

Switching to alternate sources of fuels made from biological ingredients and not fossil fuels like biodiesel is a step that we will all have to undertake to save the remaining oil on the planet. These starting ingredients can range from corn to soybeans to animal fat, depending on the type of fuel being made and the production method.

Biofuel History: The concept of biofuels is surprisingly old. Rudolf Diesel, whose invention now bears his name, had envisioned vegetable oil as a fuel source for his engine. In 1900, for example, at the World Exhibition in Paris, France, Diesel demonstrated his engine by running it on peanut oil. Similarly, Henry Ford expected his Model T to run on ethanol, a corn product. Eventually petroleum replaced these fuels because it proved to be the more logical fuel source. This was based on supply, price and efficiency, among other things. Though it wasn't common practice, vegetable oils were also used for diesel fuel during the 1930s and 1940s.

Bio-diesel as the name suggests is a kind of fuel made from vegetable oil- or animal fat-based diesel fuel consisting of long-chain alkyl (methyl, ethyl, or propyl) esters. According to ASTM (American Society for Testing and Materials) biodiesel is a fuel comprised of mono-alkyl esters of long chain fatty acids derived from vegetable oils or animal fats, designated B100, and meeting the requirements of ASTM D 6751. Biodiesel is typically made by chemically reacting lipids (e.g., vegetable oil, animal fat with an alcohol producing fatty acid esters. Unlike the vegetable and waste oils used to fuel converted diesel engines biodiesel is meant to be used in standard diesel engine. It is both non-toxic and renewable. Because biodiesel essentially comes from plants and animals, the sources can be

replenished through farming and recycling. Although animal fat can be used, plant oil is the largest source of biodiesel. Scientists and engineers can use oils from familiar crops such as soybean, rapeseed, canola, palm, cottonseed, sunflower and peanut to produce biodiesel. Biodiesel can even be made from recycled cooking grease. An advantage of bio diesel is that it needs little or no modification to be used. Although it can be used in its pure form it is often blended with standard diesel fuels. Biodiesel is environmentally friendly such as

- It can help reduce dependency on foreign oil.
- It helps to lubricate the engine itself, decreasing engine wear.
- It can be used in almost any diesel with little or no engine modification.
- It is safer than conventional diesel.
- The main key points of biodiesel are that it has fewer emissions than standard diesel, is biodegradable, and is a renewable source of energy. Biodiesel does reduce hazardous emissions. Of the current biofuels, biodiesel is the only one to have successfully completed emissions testing in accordance with the Clean Air Act.

Average Biodiesel Emissions Compared to Conventional Diesel		
Emission Component	B100	B20
Total Unburned Hydrocarbons	-67%	-20%
Carbon Monoxide	-48%	-12%
Particulate Matter	-47%	-12%
NOx	+10%	+2%
Sulfates	-100%	-20%
PAH	-80%	-13%

(Source: National Biodiesel Board)

In addition, B100 can reduce CO2 emissions by 78% and lower the carcinogenic properties of diesel fuel by 94% (National Biodiesel Board, U.S. DOE Office of Transportation Technologies). Much of the world uses a system known as the "B" factor to state the amount of biodiesel in any fuel mix. Blends of biodiesel are indicated by the abbreviation Bxx, where xx is the percentage of biodiesel in the mixture. For example B100 implies that 100% of the fuel is

made of biodiesel, B30 implies that 30% of the fuel is made of biodiesel and 70% is made of petro-diesel. Blends with 20% of below can be used in diesel engines with little or no modifications.

By far the largest example of renewable resources being substituted for nonrenewables is the use of agricultural products such as corn, soybeans, sugarcane, and palm oil to produce ethanol and biodiesel to replace gasoline and diesel fuels. But the limited energy gain for most biofuels, the use of nonrenewable resources to produce these "renewable" resources, and the detrimental effects on people and the environment are so great as to make large-scale production and use of biofuels unsustainable (Magdoff, 2008).

The era of abundant cheap resources is drawing to an end, for reasons equally straight forward. It is highly recommended that we slow down our resource utilization. If careful measures are not taken right now we will have to face the consequences in a harsh way. Even now it's too late to do anything but as the saying go "It's better to be late than never".

References:

- Meadows, D. H., Meadows, D. H., Randers, J. And Behrens, W.W. 1972. The Limits to Growth. Universe Books, New York.
- Magdoff, F. 2008. The Political Economy of Biofuels. *Monthly Review* 60(3) 34–50.
- Biomass - the growing energy resource - Australian Academy of Science (www.science.org.au/nova/039/039key.htm)
- National Renewable Energy Laboratory (www.nrel.gov/lab/pao/biomass_energy.html)
- Exploring Ways to Use Biomass Energy. U.S. Department of Energy Consumer Guide Biomass. U.S. Department of Energy.

सामाजिक वानिकी एंव वनाधारित उद्योग

ममता मेश्राम
वनिकी अनुसंधान केन्द्र, छिन्दवाड़ा

पेड़ों के महत्व को आम जनता तक पहुचाने के लिए ही सामाजिक वानिकी कार्यक्रम की शुरूवात हुयी। जनता की दैनिक जरूरतों को मद्देनज़र यह सोचा गया कि जब तक वह खुद पेड़ों के महत्व को न समझ ले तब तक कोई सार्थक पहल नहीं की जा सकती। वास्तव में समाजिक वानिकी कार्यक्रम जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा तथा जनता के लिए स्वैच्छिक कार्यक्रम है।

वनों के अंधाधुंध विनाश के कारण एंव बचे वनों को सरकारी संरक्षण देने के लिए बनाए गए विभिन्न वन अधिनियमों के कड़ाई से पालन किए जाने के समस्याए उत्पन्न हो गई। ऐसे में लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति एंव धरती की हरियाली के लिए परंपरागत वृक्षों को लगाने की आवश्यकता महसूस होने लगी लेकिन ये वृक्ष लंबी अवधि में तैयार होते है, व लोगों की तात्कालिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते अतः यह योजना बनाई गई कि गांव की खाली पड़ी अनुपयुक्त ज़मीनों पर इस तरह वृक्षारोपण किया जाए कि आसपास के लोगों को रोजाना की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। 1976 में उपर्युक्त उद्देश्यों के लिए राष्ट्रीय कृषि आयोग ने सामाजिक वानिकी की योजना बनाई।

समाजिक वानिकी योजना के उद्देश्य है – जलावन के लिए गोबर के बदले लकड़ी की आपूर्ति की व्यवस्था करना। पशुओं के लिए चारा उपलब्ध कराना। कृषि योग्य भूमि को हवा में संरक्षण प्रदान करना एंव लकड़ी सम्बधी आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ – साथ लघु उद्योगों को कच्चा माल मुहैया कराना है इसे केन्द्र सरकार ने विभिन्न स्वंयसेवी संगठनों, पंचायतों, स्कुल–कॉलेजों तथा लोगों के व्यक्तिगत सहयोग से संचालित कराने की योजना बनायी, जिसके अंतर्गत उन जमीनों पर सघन वृक्षारोपण हेतु जोर दिया गया, जो अनावश्यक रूप से खाली पड़ी हो। इनमें गैर जंगलाती, निजी, पंचायती, ग्राम समाज की जमीन के अलावा नहरों एंव रेल भागों, सड़कों के किनारे खेतों की मेड़, बंजर तथा उसर ज़मीन नदी एंव नाले के पास की ऊबड़–खाबड़ ज़मीनों के उपयोग को ध्यान में रखा गया है।

समाजिक वानिकी के मुख्य अंग – कृषि वानिकी, ग्रामीण वानिकी, शहरी वानिकी, विस्तार वानिकी एंव विश्राम वानिकी या रिक्रिएशनल वानिकी, समाजिक वानिकी को प्रोत्साहित देने के लिये राज्य सरकारें

विकेन्द्रीकरण नर्सरियों के माध्यम से नि:शुल्क एंव कहीं–कहीं काफी कम मूल्य पर पौधों को उपलब्ध कराती है। इसके अलावा राज्य सरकारे खाली पड़ी जमीन पर वृक्षारोपण भी कराती है। इस योजना के तहत सरकार ने अप्रयत्क्ष रूप से वन खेती को प्रोत्साहित करने की नीति अपनाई है। इससे केवल उन्ही पेड़ों को लगाने की सिफारिश की गई है, जो शीघ्र बढ़ सके

तथा ग्रामीण व शहरी क्षेत्र की रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति भी कर सके। समाजिक वानिकी के तहत गांवों के आसपास की परती ज़मीन पर गांव पंचायत की बंजर ज़मीन और रेल लाइनों के किनारों की ज़मीन को वृक्षारोपण के लिए चुना गया है कहीं – कहीं पर फलदार वृक्ष लगाए गए है और कहीं – कहीं पर आर्थिक महत्व के। आर्थिक महत्व के पेड़ों में ऐसे पेड़ लगाए गए है, जो शहरों में इमारती लकड़ी की आवश्यकता की पूर्ति से लेकर स्थानीय स्तर पर भी उपयोगी साबित हो सके। समाजिक वानिकी योजना में कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहित करने की योजना बनाई। फलस्वरूप डेयरी व रेशम के कीड़ो के पालन सम्बन्धी योजनाओं पर जोर दिया गया। सरकारी आकड़े सामान्यता सामाजिक वानिकी की सफलता गिनाते है, लेकिन ये आकड़े अर्धसत्य ही है कही–कही तो वृक्षारोपण सम्बन्धी आंकड़े हास्यपद हो गये है कई स्थानों पर वृक्षारोपण हो गए है कई स्थानों पर वृक्षारोपण सिर्फ कागजों पर हुआ है। सरकारी दावा है कि वृक्षारोपण से न सिर्फ धरती की हरियाली मिली वरन् डेयरी आदि उद्यागों के विकास से बड़ी मात्रा में रोजगार भी उपलब्ध हुआ है। इसके अतिरिक्त कुटीर उद्योग जैसे साबुन, पेपर,पल्प फैक्ट्री, फर्नीचर एंव तेल उद्योग के क्षेत्र में काफी रोतगार मिला। इस योजना से गरीब व निर्बल वर्ग के लोगों के जीवन स्तर में सुधार हुआ है तथा आर्थिक सम्पन्ता बढ़ी है। गरीबों व सीमान्त कृषकों के पशुओं को अच्छा चारा उपलब्ध हुआ है। जलाऊ लकड़ी मिलने के कारण गोबर के कंडे का उपयोग बहुत कम हो गया है। इस बचे गोबर का प्रयोग खाद के रूप में होने पर कृषि के स्तर में सुधार हुआ है। महिलाएं जो अपनी कार्यक्षमता का अधिकांश भाग ईधन जुटाने में लगाती थी, वे उस समय का उपयोग अन्य कार्यो को करने के लिए स्वतंत्र हो गई है। फलत: उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार आया। छोटे–छोटे उद्योग जैसे दियासलाई, पेपर पल्प आदि के लिए बड़े–बड़े पेड़ों का कटना बंद हुआ है। इनकी जगह अब योजना के अंतर्गत शीघ्र तैयार होने वाले छोटे–छोटे पेड़ों ने ले ली है। इस तरह से वृक्षों की अवैधानिक व अनियोजित कटाई भी बंद हुयी है। कुल मिलाकर सामाजिक वानिकी ने वृक्षारोपण, पर्यावरण सुधार एंव निम्न लोगों की

आर्थिक स्थिति को ऊंचा उठाने में काफी मदद दी है।

इन सबके बावजूद सामाजिक वानिकी की सफलता को लेकर अनेक शंकाए और आपतिया प्रारंभ से उठाई जाती रही है। मुख्यतः यह योजना समाज के निचले तबके के लोगों के उत्थान के लिए लाई गई थी, लेकिन विश्व बैंक ने मूल्यांकन किया तो पाया कि इस योजना का मुख्य लाभ बड़े व धनी किसानों को ही मिल रहा है दरअसल, बड़े–बड़े किसानों ने केवल उद्योगों के लिए ही वृक्षारोपण किया न कि ईधन की आपुर्ति के लिए। यूकेलिप्टस जैसे पौधों को लगाने जाने को प्रोत्साहन तो दिया गया, लेकिन यह नही सोचा गया कि इसे चारे कि आपूर्ति कहां तक होगी। इसकी पत्तियां तो बकरियां तक भी नहीं खाती है। बंजर तथा ऊसर भूमि पर यूं ही उगने वाली झाड़ियां जलाने के काम में भले ही आ जाएं, चारा नहीं बन सकती है। दुसरी ओर ग्रामीण व अनपढ़ भुमिहीन व सीमांत किसान उन सुविधाए को लेने के लिए तैयार नहीं उन्हे डर है कि ज़मीन पर जो पौधे लगे है कहीं आगे चलकर सरकार उन्हे अपने नियंत्रण में न ले ले।गांव वाले यह नहीं चाहते थे कि उनकी ज़मीन पर सरकार पेड़ लगाए क्योकि वे पट्टे को लेने–देने के पक्ष मे नहीं होते।उनकी धारणा यह होती है कि कहीं सरकार या वन विभाग इसकी आड़ में उनकी ज़मीन ही न हथिया ले।

सामाजिक वानिकी कार्यक्रम को अगर सचमुच कारगर होते देखना है तो उसके लिए उसके उद्देश्यों और तरीकों में बुनियादी तब्दीली लाए बिना कुछ नहीं होगा क्षेत्रीय स्तर पर ऐसे कार्यक्रम दिखाए जाने चाहिए जिससे आम जनता में वृक्षों के सरंक्षण एंव पर्यावरण के सुधार के प्रति जागरूकता पैदा हो। वनों के निकट रहने वालों के लिए वनाधारित कुटीर उद्योग स्थापित हो सके। इन उद्योगों के प्रारंभ हो जाने से गरीब एंव कमजोर वर्ग के लोग वन सम्पदा का समुचित लाभ उठा सके। तथा अपनी आय और जीवन स्तर में वृद्वि कर सके उन्हे वनाधारित कुटीर उद्योगों का प्रशिक्षण देना प्रथम प्राथमिकता होनी चाहिए। यह भी ध्यान रखना होगा कि योजना का लाभ जरूरतमंद व्यक्ति को ही मिले मात्र पैसे स्वीकृत करके वृक्षारोप कार्यक्रम संचालित नहीं किया जा सकता।

वनों की स्थिति तथा उससे उत्पन्न वन उपज को देखते हुए निम्नानुसार उद्योगों को प्रोत्साहित किया जा सकता है –

- बांस पर आधारित कुटीर उद्योग– बांस की उपलब्धता के आधार पर इन पर आधारित कुटीर उद्योग जैसे बांस के सूपे, टोकनी, चटई, फर्नीचर, खिलौने, अगरबत्ती काड़ी निर्माण आदि की स्थापना की जा सकती है।

- त्रिफला चूर्ण एंव वन औषधियॉ – आंवला, हर्रा तथा बहेड़ा जिससे त्रिफला निर्मित किया जा सकता है इसी प्रकार अन्य औषधीय पौधें जैसे कालमेघ, सतावर, काली मूसली, बायविड़ंग,रतनजोत आदि का संग्रहण एंव कृषि भी की जा सकती है। आंवले से आचार, मुरब्बा निर्माण कुटीर उद्योग को आसानी से स्थापित किया जा सकता है।
- काष्ठ आधारित उद्योग–फर्नीचर एंव लकड़ी के खिलौने बनाने का कार्य भी लघु उद्योग के रूप में विकसित हो सकता है। किन्तु फर्नीचर की अपेक्षा खिलौनों में लकड़ी की खपत कम होने के कारण इस उद्योग को प्रोत्साहित किया जाना उचित होगा। कार्य आयोजन क्षेत्र में खिलौने बनाने वाले कारीगर मौजुद है तो खिलौना उद्योग हेतु उचित प्रशिक्षण देने के अतिरिक्त तैयार माल को सहकारिता एंव आदिवासी विकास के माध्यम से शहरों में विक्रय कराने की व्यवस्था अलग से करनी होगी। कार्य आयोजन क्षेत्र में दूधी, हल्दू,मोयन,मुण्डी पापड़ा आदि प्रजातियॉ की उपलब्धता की वजह से इस आयोजन क्षेत्र में खिलौने बनाने के र्निमाण संबधी विकास की कल्पना की जा सकती है।
- पैकिंग केस एंव फोटो फ्रेम –मोयन तथा हल्की लकड़ी के वृक्ष की प्रचुरता की वजह से इस क्षेत्र में पैकिंग केस उद्योग पनपने की कॉफी सम्भावना हो सकती है। मोयन वृक्षों के अतिरिक्त गुंजा,भंवरसाल आदि वृक्षों की प्रचुरता होने से यह उद्योग आसानी से विकसित किया जा सकता है।जो संतरा पैकिंग की पेटी बनाने के लिए उपयोगी है।
- बीड़ी उद्योग – अकष्ठीय वनोउपज तेन्दुपत्ता है। अतः तेन्दुपत्ता व्यवसाय पर आधारित बीड़ी उद्योग विकसित किया जा सकता है यदि 15 हजार मानक बोरा तेन्दुपत्ता प्रतिवर्श उत्पादन की क्षमता है यह एक बड़ी मात्रा है तेन्दुपत्ता संग्रहण के पूर्व से ही सहकारी समितियों के माध्यम से किया जस सकता है। इन्ही समितियों को माध्यम बनाकर इच्छुक व्यक्तियों को प्रशिक्षण देकर सागर जिले की भांति घरेलु उद्योग को विकसित किया जा सकता है। इससे वनों पर बिना किसी अतिरिक्त बोझ के ग्रामीणों हेतु रोजगार के अवसर उपलब्ध होगे यह उद्योग और अधिक सफल हो सकता है यदि जिले में कुछ पैमाने पर तम्बाकु की खेती की जाए तथा इसके भोधन के लिए कुछ व्यक्तियों को प्रशिक्षण हेतु सागर अथवा गुजरात आदि स्थानों में भेजा जाए।
- रस्सी निर्माण उद्योग – सबई घास एंव केतकी के रोपणी से रस्सी निर्माण का कुटीर उद्योग आसानी से चलाया जा सकता है। सबई घास प्राकृतिक रूप से कहीं–कहीं मिलती है। इसके रोपण आसानी से किए जा सकते है जब तक बड़े पैमाने पर कच्चा माल उपलब्ध ना हो तब तक बाजार की तुलना में व्यापारिक रूप से

सस्ते दामों पर रस्सी उत्पादन में सम्भव नहीं है।

- साबुन निर्माण उद्योग – वानिकी प्रजातिया जैसे नीम,महुआ,कंरज के बीजों से तेल निकालकर साबुन निर्माण का कुटीर उद्योग स्थापित किया जा सकता है।
- कोसा/टसर एंव रेशम उद्योग – जिन क्षेत्रों में बेर प्रजातियों के वृक्ष पर्याप्त मात्रा में है अर्जुन एंव साजा भी हो इस उद्योग को बढ़ावा दिया जा सका है।
- माहुल पत्ते से पतल–दोना निर्माण – माहुल पत्ते से पत्तल–दोना बनाने का कार्य हाथ एंव मशीन दोनों से घरेलु उद्योग के रूप मे किया जाता है।किन्तु मशीन का उपयोग बहुत ही सिमित है इस व्यवसाय में लगे ग्रामीण की आय में लगभग दुगनी वृद्धि वनों से माहुल पत्ते के दोहन की मात्रा को बढ़ाये बिना ही हो सकती हैं।इस
- उद्योग को बढ़ावा देने का प्रमुख तात्पर्य यह है कि बेलाओं के द्वारा वृक्षों को होने वाले नुकसान में भी कमी आयेगी तथा प्लास्टिक का उपयोग कम होने के कारण प्लास्टिक से होने वाले नुकसान से बचा जा सकेगा।
- डेयरी विकास –चारा प्रजातियों घास उत्पादन वाले क्षेत्रों से लगे ग्रामों के ग्रामीण द्वारा दुधारू पशु रखकर डेयरी उद्योग विकसित किया जा सकता है। इसके लिए उन्नत घास प्रजातिया रोपण की जानी चाहिए। साथ ही उन्नत किस्म के दुधारू पशु पालन किया जाना चाहिए तथा तकनीकी जानकारी एंव मार्गदर्शन लेकर इस उद्योग को विकसित करना चाहिए।

Detoriation of medicinal seeds due to environmental affect and its management

Dr. Seema Bhaskar
Government Post Graduate College, Seoni (M.P.)

Medicinal seeds are very precious for Indian economy. These seeds are destroyed by environmental condition and fungal activities. Mycotoxins are produced due to invasion of various fungi. This deterioration can be controlled by controlling environmental conditions and using sun treatment, Plant extract and biological agents.

India is sitting on a gold mine of traditionally well practiced knowledge of herbal medicine. Ethnic prople have deep belief in traditional health care system and plant material are the main ingredients sixty percent of illiterate people have better knowledge about folk medicine and eighty four percent ingredients are from wild medicinal plants.

According to the WHO, 80% of the population in developing countries relies upon traditional plant based medicine for their primary health care. Trade in herbal medicines is estimated at 10 billion annually and growing in excess of 10% annually. The increasing demand can be fulfilled by growing medicinal crop with superior quality seeds. Indian climate conditions are highly conductive for mould invasion, proliferation and elaboration of mycotoxine, unseasonable rains and flood are very common in India, which enhance the moisture content of the seeds making them more vulnerable to fungal attack. Besides climatic conditions, the storage practices are by in large primitive. Modification of storage environment at high scientific level and transportation under safe conditions will be effective in reducing the risk of contamination in crude herbal seeds.

India has the largest biodiversity in the world. It has 45,000 plant species of which 15,000-20,000 possesses proven medicinal value. M.P. is one of the states which are richly blessed with medicinal resources. It may be because of variation in the climate, soil and topographic factors, seeds being the most basic input of any planting program success of the program depends

Fruits of ***B.lanzan***

on the availability of healthy seeds that must be able to germinate. Wheat seed has been attributed is one of the important Factors in sustaining the green revolution in India. It is therefore, necessary to pay proper attention to seed handling aspects from beginning from collection and subsequently storing seed until planting. The present deteriorating condition of medicinal seeds is very precarious and needs immediate steps for conservation.

One of the major constraints in the conservation of medicinal seeds is diseases incited by micro-organism.

Among various micro-organisms, fungal pathogens are known to be responsible for several serious diseases of medicinal plants. Therefore the main aim of the present investigation was to detect and management of storage seed mycoflora of

Seeds of ***P.pinnata***

five important seeds of medicinal plant growing luxuriantly in Madhya Pradesh. These are *B.lanzan*, *P.pinnata*, *S.anacardium*, *S.indicus* and *W.somnifera*. A total 27 fungi belongs to 17 genera of fungi were encountered from various seeds. *B.lanzan* yielded maximum number of fungi. Seed mycoflora encountered included many pathogenic fungi viz. *Curoularia lanata, D.rostrata, Fusarium spp, Myrothecium roridum etc. Many fungi viz. Aspergillus spp, Penicillium nigaricans, Mucor hiemalis, Rhizopus spp,* although considered non-pathogenic but responsible for severe losses due to elaboration of phytotoxic substances. Similarly same fungal isolates viz; *Trichoderma harzianum, Chaetonium globosum* isolated frequently from various seeds are well known antagonistic.

Variations in composition and dominance of mycoflora amongst various seeds have also reported by many earlier workers. (Ghyare 2005, 2006 and Kavitha and Vijyalakshmi, 2007).

Moisture and temperature plays a key role in deterioration of seeds. In moist stored seeds spontaneous heating takes place and temperature increases. Due to respiration, increase in temperature; favor most of the pathogen associated with the stored seeds. Moisture content also increase with increase in relative humidity.Similarly trends were also recorded in case of temprature 27 ^{o}c supported maximum

number of fungi during storage. Lower and higher temperature not only influenced the number but also type of fungi survives at particular temperature. Similar observations have also recorded by many earlier workers.

Moisture and humidity were also responsible for larger amount of toxin formation. At high humidity seeds were deteriorate much faster, which resulted in the increased level of aflatoxin production. The toxic metabolities was mostly produced by storage mycoflora Especially A.flavus which produced all the four major types of aflatoxin i.e. B1 B2 G1 G2 significantly correlation in humidity and aflatoxin production has also reported by (Chandra and Sorbhoy 1997, Singh 2003 and Saxena and Raghavender 2006).

Improvised device of moisture control for storing seeds is specially designed to control humidly and moisture of the chamber. It is quite simple and can easily be fabricated without involving much expenditure. However it is effective in controlling the humidity and improving storage condition. It can be fabricated in different size according to our requirement (Bhasker et al 2005).

Seeds of ***W. somnifera***

Seeds of ***S.anacardium***

The associations of fungi with seeds are known to influence the germination and viability of seeds. Seed borne fungi can cause significant loss in germinability due to mechanical damage to the seeds. Unfavorable conditions at the time of collection of seeds and during storage provide excellent opportunities for colonization and subsequent growth of storage mycoflora significantloss of germiniability was recorded with increased in storage period i.e. 4, 8 and 12 months of storage. Loss of seed viability was very high in B. lanzan.

Similar observations have also recorded by many other workers including (Sahai 1999, Gupta 2002, Ghyare 2005).

Management of seed mycoflora is essential not only for plantation but also for maintenance of quality of seeds. Seeds are both vehicle and victims of mycoflora.

Infected or infested seeds are considered as important source of primary inoculum and responsible for a large number of destructive diseases of important food, fodder, fiber and medicinal plants. Besides affecting the yield seed pathogens affect the nutritive quality and value of the medicinal seed (Neergaard 1977). Therefore, various strategies had been tried to find out suitable technique for management of seed mycoflora of test plants.

Storage devices play an important role in the life span of seeds. Seeds stored incontainer, protect them from adverse atmospheric condition. Improved moisture controlling device was more effective than seeds stored in open, earthen pot, paper packet, cloth bag, polythene packet, tin container, plastic container and glass bottles. Deterioration was very high when stored in paper packet and very less in special device in B. lanzan seeds. It may be due to chemical composition of storage material paper and cotton bags being rich in cellulose not only absorbed moisture but also provide initial food for storage mycoflora.

Similar observations have also recorded by many other workers (Kumar and Tripathi 2002, Adekunle and Nagwanna 2004 and Bhasker et al. 2005). Rising sun destroys numerous germs causing the diseases. This is saying of scared hymn from Atharva Veda. Almost same expression is evident from holy mantra of Rig-Veda. The sun who watches the whole universe and who destroys all the invisible poisonous creature rises from the east---1.191.8 (Arya 2007).

Solarization considers a very effective method to protect seeds from fungal infestation (Arya 2007). It was recorded that deterioration of seeds decreased with increased of solarisation treatment duration. Deterioration of stored medicinal a seed without solar treatment was very high. Thus, a significant correlation in deterioration of seeds and the days of solar treatment. Similar observation has been recorded by (Sahu and Kar 2007).

For the management of fungal infestations

in seeds chemical and natural substances

Seeds of ***S. indicus***

have also recommended by many workers (Bhatnagar et al 2004). *Syzygium aromaticum* (L.) Cloves were observed to be the most effective means than dried tobacco leaves and A.indica leaves. Ampoules which are normally used to

protect grain from micro-organism and it proved more effective than naphthalene balls. Similar findings have also been reported by (Kumar and Tripathi 2002).

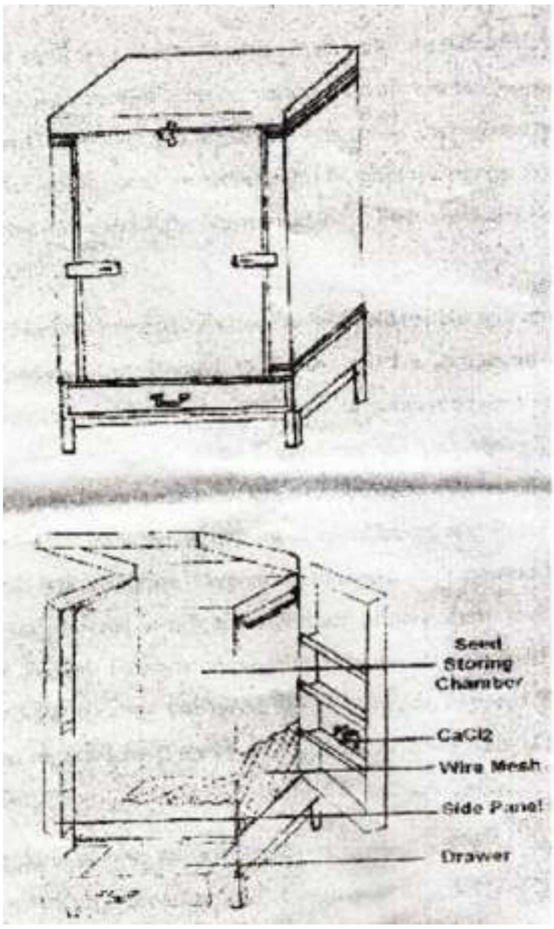

Drawing of moisture controlling device

Plant extract act as the biological agents and natural fungicide. Plants are the only source of a number of well-established traditional modern drugs and phyto chemicals. The inhibitory effect of the plant extracts might be attributed due to the presence of some antifungal toxicants. These are eco-friendly, economical and easy to prepare. Compounds are biodegradable and selective in their toxicity the benefit of natural fungicide have aroused interest in protection of medicinal seeds (Pandey et al.2007, Bhasker and Gautam 2007, Bohra et al. 2007). During the present investigation aqueous extracts of garlic bulbs and A. indica leaves were found most inhibitory to most of the fungus infested seeds of test plants. Garlic bulb extracts was more effective than A. indica leaves extract. Similar observations have also recorded by many other workers including (Bhasker et al. 2007 and Hussain et al.2007). Biological control of plants diseases is gaining importance in recent years, since use of chemical pesticides lead to various

Moisture controlling device

health hazard to human beings. Biological control by antagonistic organism especially Trichoderma spp. are consider as most potential tool for crop protection

against phytopathogens. (Nagee et al 2003, Tapwal et al 2007).

A bio control agent must be effective and compatible with crop production practices. Trichoderma spp. proved to be the most effective bio-control agent. Therefore, biocontrol potential of Trichoderma harzianum against some important storage fungi were investigated when Trichoderma spp. and Aspergillus strains were co inoculated, Trichoderma harzianum grew over Aspergillus spp. This over growth may be due to its fast growing nature, rapid sporulation, and secretion of gliotoxin and or cell wall lytic enzymes. Hyphae of bioagent over powered the growth of the test agent and entered inside the mycelium of pathogens, thus pathogens lost their viability. The test bioagent was highly effective in both condition i.e. in vivo and invitro and significantly enhanced the germination of seeds. Similar findings have also been reported by (Singh et al 2002, Shukla and Choudhary 2007).

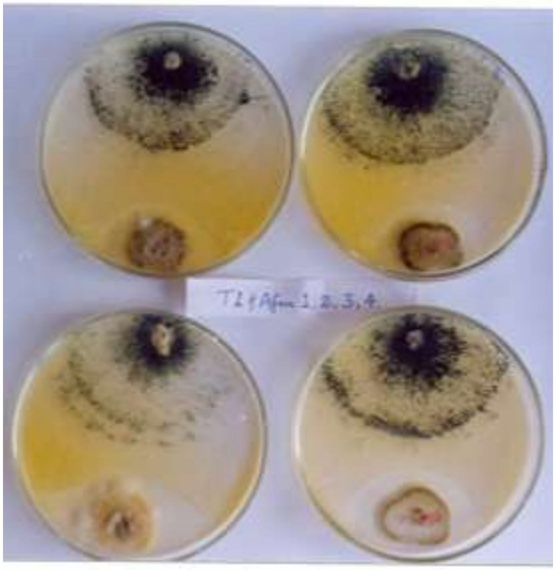

Antagonastic effect of Trichoderma on *A. fumigates*

On the basis of overall investigations carried out, it is concluded that the modification of storage environment at high scientific level and use of various control practices viz; plants extract, biocontrol agent, natural substances solarization technique are highly effective in reducing the risk of contamination in medicinal seeds.

References

Adekunle, A.A and Ngwannra U.Uma (2004). Management of insect pest in storage for preservation of Cucumeropsis mannii seeds J.Ind. Phythopath. 57(3): 280-286

Arya, Arun (2007). Soil solarization to control with diseases of pigeon pea pp. 165-250. In seed borne diseases: Eco-friendly management (Eds. Arun Arya and Cecilia Monaco). Scientific publisher, Jabalpur.

Bhaskar, S., Silawat, N. and Gautam, S.P. (2005) Improvised device of moisture control for storing seed. J. Trop.For.21 (I &II): 75-76.

Bhasker S. and Gautam S.P. (2007). Plant extract - A Magical Liquid, Abst. IPS-190.

59th Annual Meeting of Indian Phyto path, pp.84.

Bhatnagar, Kalpana, Sharma, Bhimsen and Cheema, H.S.(2004). Efficacy of plant extracts against Fusarium oxysporum f.sp. cumini wilt in cumin. J.Myco.Pl. Pathol.34 (2):360-361.

Bohra. Burhanuddin, B.N. Vyas and K.B. Mistry (2007). Antifungal activity of some Botanicals against Devastating Phytopathogenic fungi Abs. Indian Phythopath society. IPS-220.PP 96.

Chandra, Ramesh and Sorbhoy, A.K. (1997). Production of aflatoxins and zearalenone by the toxigenic fungal isolates obtained from stored food grains of commercial crops Indian Phytopath.50 (4): 456-468.

Ghyare, B.P. (2005). Isolation of seed mycoflora of some medicinal plants J.Basic Appl.Mycol.4 (I&II): 107-108.

Gupta Anju (2002). Residual efficacy of seed dressing chemicals during storage. Indian Phytopath. 55(1): 99-101.

Hussain Mohd. Adil, Pandey Adarsh and P.B. Awasthi (2007). Effect of fungicidal properties of aqueous bulb extract of Allium sativum Curvularia lunata a common pathogen of shimla chilli IPS 39. pp. 18.

Kavita A. and Vijayalakhshmi (2007). Seed mycoflora Associated with sorghum genotypes and their toxigenic potential. J. Basic. Appl. Mycol.6 (I&II): 84-88.

Kumar Narendra and Tripathi, N.N. (2002). Fungal infestate in ground nut seed during storage and their control by essential oil of Putranjiva roxburghii Wall.J.Indian Bot.Soc. 81: 127-132.

Neergaard, P. (1977). Seed Pathology, Vol. I. The Macmillan Press Ltd, London and Basingstoke, 839 pp.

Negi, Himanshu and Das, B. (2003). Screening of rice varieties against seed discoloration J.Indian Phytopath. 56(4): 460-461.

Sahu K.C. and Kar A.K. (2007). Storage container influencing the seed borne mycoflora of paddy seeds at coastal region of orissa. Abstract, IPS 195 J. Indian Phytopath.

जैव विविधता का संरक्षण एवं संबर्धन: सुजाग्रति समाज सेवी संस्था का एक सार्थक प्रयास

जाकिर हुसैन
सुजाग्रति समाज सेवी संस्था एवं जैवविविधता प्रबंधन समिति पिपरई मुरैना म0प्र0

सुजाग्रति समाज सेवी संस्था एक स्वैच्छिक संगठन है जो विगत 14 वर्षों से म0प्र0 के मुरैना जिले में जैवविविधता संरक्षण एवं संवर्धन पर कार्य कर रही है। समिति का कार्य :

- स्थानीय जैव सम्पदा का संरक्षण एवं संबर्धन।
- स्थानीय समुदाय आधारित संगठनों का विकास एंव क्षमता बृद्धि।
- जैवविविधता संरक्षण से आजीविकोपार्जन गतिविधियों का संचालन।
- दुर्लभ एवं विलुप्त प्रायः प्रजातियों का संरक्षण एवं संबर्धन।
- समुदाय संचालित जल संरक्षण एवं मृदा संरक्षण कार्यक्रम।

कार्य क्षेत्र का विवरण

मुरैना जिला चम्बल के बीहडों के बीच में स्थित है। मुरैना जिला 4,998.78 वर्ग कि0मी0 के क्षेत्र में 1,587,264 (2001) की जनसंख्या बाला जिला है इसका नाम मुरैना यहॉ की राष्ट्रीय पहचान मोर के निवास स्थल के रूप में जाना जाता है। मुरैना जिले के उत्तर व पश्चिम में राजस्थान एवं उत्तर पूर्व में उत्तर प्रदेश की सीमायें लगती है इसके समीपवर्ती जिले म0प्र0, भिण्ड, ग्वालियर व श्योपुर है। यहॉ की औसत वर्षा 700 मि0मी0 है व 35 दिन वारिश के है यहॉ के तापमान में अत्यधिक विभिन्नता है, यहॉ सर्दियों में जहॉ 0 ˙C तक पहुच जाता है वहीं गर्मीयों में 48 ˙C तक पहुच जाता है।

मुरैना जिले की प्रमुख नदियॉ चम्बल, क्वारी, आसन एवं सांक है । 435 कि0मी0 के प्रवाह क्षेत्र बाली चम्बल नदी देश की सुन्दरता एवं सबसे कम प्रदूशित नदियों में से एक है। चम्बल नदी घडियाल संरक्षण एवं दुर्लभ डॉलफिन के निवास स्थल के रूप में जानी जाती है।

मुरैना जिले के कुल भोगौलिक क्षेत्रफल के 50% भू–भाग पर कृषि कार्य किया जाता है इस कृषि क्षेत्र का 58.74 % भाग सिंचित कृषिक्षेत्र के अन्तर्गत आता है, नहर सिचाई प्रणाली के द्वारा 42.94 % कृषि भूमि की सिचाई की जाती है। बाजरा खरीफ की व सरसों एवं गेंहू रवी की मुख्य फसलें है।

जैवविविधता का संरक्षण एवं संबर्धन

किसी भी क्षेत्र के समुदाय के आजीविकोपार्जन की पद्धति को वहॉ की जैवविविधता प्रभावित करती है। मानव

जीवन के अस्तित्व उसकी आर्थिक आत्मनिर्भता व प्राकृतिक सन्तुलन के लिये जैवविविधता आवश्यक है। जैविक सम्पदा की सम्पन्नता उसकी विविधता है, अर्थात जितने अधिक किस्म की वनस्पतियॉ पेड–पौधे अनाज जीव जन्तु जल स्त्रोत आदि हमारी प्रकृति में होगें उतनी ही स्वस्थ्य हमारी धरती और उस पर वसने वाले लोग होंगे।

यह जैवविविधता प्रदेश की निरन्तर विकास की धारा को बनाये रखते हुये प्रदेश के लाखों जनों की रोजी–रोटी को मजबूती प्रदान करते हुये कुदरत के संतुलन को बनाये रखने में सहायक है। प्रदेश में इतनी संपन्न जैवविविधता के होते हुये भी गरीबी और आभाव की जिन्दगी भी है मौसमी पलायन भी है, इन सबके चलते हमारी जैवविविधता का खतरा उत्पन्न हो गया है।

बीज द्वारा गुग्गुल नर्सरी

वर्तमान में गुग्गुल राल की अत्यधिक औधोगिक मांग और इस पूर्ति के संबधित विनाशपूर्ण विदोहन के फलस्वरूप गुग्गुल को भारत में विलुप्त वनस्पति प्रजातियों की श्रेणी में अंकित होना चिंतनीय है। फिर भी पौधे का घनत्व तीव्र गति से घटता जा रहा है। गुग्गुल का उत्पादन 500 मिट्रिक टन (सन् 1961 में) से घटकर वर्तमान में मात्र 10 मिट्रिक टन रह गया है। भारत में गुग्गुल की व्यवसायिक वार्षिक मांग 1610 टन मिट्रिक टन है। इस मॉग की 90 प्रतिशत पूर्ति पाकिस्तान से होती है। गुग्गुल के पौधों शुष्क एवं अर्धशुष्क जलवायु क्षेत्र (पड़ती, रेतीली, पथरीली इत्यादि भूमि) में पाये जाने के कारण इस पौधे को व्यापक वृक्षारोपण कार्यक्रम में सम्मिलित किया जाना चाहिए। गुग्गुल पौधों की सुरक्षा एवं संरक्षण के लिए सामन्विक प्रयास किया जाना चाहिए।

गुग्गुल का प्रर्वधन बीज, कलम (कटिंग्स), गुटी एवं ऊतक संवर्धन विधि से किया जा सकता है।

बीज– बीजों के द्वारा गुग्गुल के पौधों को सरलता एवं सफलतापूर्वक प्रर्वधन किया जा सकता है। बीज से उत्पन्न मूसल जड़ पौधों की वृद्वि एवं विकास में उत्तम होता हैं कलमों से उत्पन्न पौधों की तुलना में यह पौधा अधिक स्वस्थ एवं सहनशील रहता है। संग्रहित बीजों को रात भर पानी में भिगोकर तथा सुबह तैरते हुये हल्के बीजों को अलग करके स्वस्थ बीज प्राप्त किया जाता है।
दो से तीन फीट चौड़े एवं बीस फीट लम्बी क्यारियों में लगभग छः इंच उपर की मिट्टी को अलग कर माघ्यम से भरा पॉलीथीन थैली को रखने की व्यवस्था बनानी चाहिये। रेत, मिट्टी एवं सड़ी गोबर खाद का बराबर के अनुपात का मिश्रण, पौधा विकास के लिए में उत्तम माध्यम होता है। उक्त माध्यम को पूर्व से छिद्र किये गये पॉलीथीन के थैली में भर कर प्रत्येक थैली में दो स्वस्थ बीज को रोपणा चाहिए। बीज युक्त पॉलीथीन थैली को छायादार स्थान पर रख कर नियमित सिंचाई करना चाहिए। रोपणी के लिये चयनित स्थान छायादार होना चाहिए। छाया के अभाव में कृत्रिम रूप से छाया की व्यवस्था करनी चाहिये।

गूगल के संरक्षण हेतु विनाशहीन विदोहन की प्रकिया के तहत गोंद निकालने हेतु चीरा लगाना सीखते हुये किसान।

मुरैना म0 प्र0 तथा गुजरात के पौधे में अन्तर

विदोहन	मुरैना चम्बल	गुजरात
चीरा लगाना	फरवरी–मार्च	नबम्वर–दिसम्वर
चीरा उपकरण	गुग्गुल चीरा यंत्र	स्थानीय औजार
चीरा की गहराई	अधिक	कम
चीरा की संख्या प्रति पौधा	4 से 5	3 से 4
राल संग्रहण समय	मार्च से जून तक (सुबह)	नवम्बर से जनवरी तक (सुबह)
प्रत्येक राल संग्रहण का अंतराल	7 दिन	7 दिन
राल प्रति वृक्ष	250–800 ग्राम	25–100 ग्राम
पौधे की ऊँचाई	10 से 12 फीट	4 से 5

इसलिए पुरे देश में चम्बल का ही पौधा लगाना चाहिए। यह अध्ययन डा0 मोनी थॉमस जे.एन.के.भी.भी. जवलपुर एवं डा0 किमोठी वरिष्ठ वैज्ञानिक डावर कम्पनी दिल्ली के शोधपत्र के अनुसार है।

बीज संग्रहण– गुग्गुल के फल वर्ष के अक्टूबर–नबम्वर एवं अप्रैल–मई के महिनों में संग्रहित किया जाता है। किन्तु मध्यप्रदेश के मुरैना एवं श्योपुर क्षेत्रों में गुग्गुल वृक्ष में हरे फल जनवरी माह में पाया जाता है। पके फल को संग्रहित कर, हाथों से मसल कर कत्थे रंग के बीज को प्राप्त किया जाता है। प्रायः यह देखा गया है कि अप्रैल–मई महिने में प्राप्त हुए बीजों का अंकुरण प्रतिशत अधिक होता है। एक श्रमिक 300 से 400 ग्राम फल प्रति दिन में संग्रह कर सकता है, प्रति 50 ग्राम में औसतन 150 फल और 900 बीज होते हैं। इसी प्रयास को आगे बढ़ाते हुए संस्था द्वारा बीज से पौधे तैयार कर ज्यादा से ज्यादा जगह में इसका प्लान्टेशन करने के प्रयास में है।

संस्था व जैवविविधता प्रबंधन समिति पिपरई का यह प्रयास समुदाय, जैवविविधता बोर्ड, सी ई ई दिल्ली के संयुक्त प्रयास का स्वरूप है। आज समिति स्वावलम्बन की ओर बड रही है चम्बल की प्राकृतिक सम्पदा जैवविविधता के संरक्षण व संबर्धन का यह प्रयास और व्यापक होगा व क्षेत्र की अन्य पंचायत भी इसी प्रयास में सामिल होंगी। सुजाग्रति संस्था क्षेत्र की अन्य पंचायतों में भी इसी प्रकार के प्रयास कर रही है।

Biological Diversity: Seeds of medicinal plants

Neelu Singh, D.C.Kori and K.C.Choudhary
Non wood Forest Produce Division
Tropical Forest Research Institute, Jabalpur-482-021

Madhya Pradesh is a rich repository of medicinal flora. People of the state inherit a wide range of traditions, dialects, beliefs and cultures. Indigenous communities living in the state rely, to a large extent, on native plant species for curing various ailments.

Seeds have been an important development in the reproduction and spread of gymnosperm and angiosperm plants, relative to more primitive plants such as ferns, mosses and liverworts, which do not have seeds and use other means to propagate themselves. This can be seen by the success of seed plants (both gymnosperms and angiosperms) in dominating biological niches on land, from forests to grasslands both in hot and cold climates.

Many seeds are edible and the majority of human calories comes from seeds especially from cereals, legumes and nuts. Seeds also provide most cooking oils, many beverages and spices and some important food additives. In different seeds the seed embryo or the endosperm dominates and provides most of the nutrients. The storage proteins of the embryo and endosperm differ in their amino acid content and physical properties. For example the gluten of wheat, important in providing the elastic property to bread dough is strictly an endosperm protein.

The *shape*, size, colour and weight of the seeds vary to a large extent. The aim of the study was to assess diversity in morphological characteristics of seeds of some important medicinal plants and create a digitalized visual documentation. In this study, the seed morphology of 25 samples representing medicinal plants is documented. The morphology of the specimens was studied in detail. Based on the examination of the seeds of different species, a set of morphological features for describing the general shape of the seeds and their weights were is recorded.

The seed samples of medicinal plants were collected from Non wood Forest Produce Garden of Tropical Forest Research Institute, Jabalpur. These species are known to have considerable uses in traditional medicines in India.

The data on seed morphological characteristics e.g seed shape, seed length,

seed breadth, weight of seed is presented in Table.

Table: Characteristics of Seeds

SN	Name of plants		Seed shape	Seed length (mm)	Seed width (mm	Thickness (mm)	Color of seed	*Wt. of one seed (gm)
1	*Withania somnifera* (L.) Dunal अश्वगंधा जवाहर 134 (a Variety of Ashwagandha released by JNKVV,Jabalpur) Family - Solanaceae		elliptical misc	1.5-2	1.5-2	05-1	Light yellow	0.00196
2	*Withania somnifera* (L.) Dunal अश्वगंधा जवाहर 20 (a Variety of Ashwagandha released by JNKVV,Jabalpur) Family - Solanaceae		Elliptical, misc	1.7-2	1.5-2	0.7-1	light yellow	0.0018
3	*Withania somnifera* (L.) Dunal Family - Solanaceae अश्वगंधा पोशिता (a Variety of Ashwagandha released by JNKVV,Jabalpur)		Elliptical, misc	1.5-2	1.6-2	1	light yellow	0.0024
4	*Lepidium sativum* L. चन्द्रसूर Family - Brassicaceae		oblong, somewhat angular and slightly curved on one side	1.5-1.7	1.1-14		reddish in colour	0.0014
5	*Cassia occidentalis (Linn.)*		misc	2.5-2.7	2-2.4	1.5-1.7	Light yellow	0.011

	कसौंदी *Family* - Fabaceae							
6	*Foeniculum vulgare* Mill. सोंफ Family - Apiaceae		oblong or curved (comma)	5.8-6	1.7-2	1.3-1.5	light brown	0.005
7	*Clitoria ternatea* L. अपराजिता Family - Fabaceae		reniform	5-5.3	4-4.3	2.5	black	0.053
8	*Abelmoschus moschatus*Medik. मुस्कदाना Family- Malvaceae		bean **shape**	3.0-3.5	2.5-3.0	2-2.2	brown	0.012
9	*Abrus precatorius* गुमची (काली) Family - Fabaceae		oval-shaped	6-6.3	5.0 - 5.3		brown	0.120
10	*Abrusv precatorius* गुमची (लाल) Family - Fabaceae		oval-shaped (i.e. ellipsoid)	6.3-6.5	5.2-5.3		bright scarlet-red in color with a large black spot	0.1303
11	*Acacia concinna*(Willd.) DC. शिकाकाई Family - Fabaceae		oval-shaped	8.5-9.0	5.1-5.4	2.5-2.7	black	0.172
12	*Cassia angustifolia* सनाय Family – Caesalpinaceae		oblong	6.5-6.7	3.2-3.5	3-3.2	brown	0.0232
13	*Caesalpinia bonducella* (L.) Fleming गटारन Family - Caesalpiniacea		globular	16-18.2	13-13.3	10-10.2	grey	0.419

	e							
14	*Allium cepa* L. कलौंजी Family - Amaryllidaceae		triangular	2.2-2.4	1.5-1.6	1.5	black	0.00196
15	*Ocimum sanctum L.* तुलसी (श्यामा) Family: Lamiaceae		oval	0.75-1.1	0.75-1.0		yellow to reddish	0.00016
16	*Hyoscyamus niger*L. खुरसानी अजमाइन Family - Solanaceae		obovate,	0.75-1.2	0.75-1.1		Yellowish brown	0.000493
17	*Abutilon indicum* (Link) Sweet कंघी Family - Malvaceae		Pear shaped	2.1-2.5	2.0-2.2	1.5-1.6	brown	0.005
18	*Trachyspermum ammi* Sprague अजमाइन Family - Apiaceae		Misc	1.5-1.6	1.0-1.2		grayish in colour	0.001
19	*Annona reticulata* L. रामफल Family - Annonaceae		Oval	11-12.1	5.5-5.7	3-3.2	brown	0.120
20	*Abroma angusta* (L.) L.f. उलटकंबल Family - Malvaceae		oval	2.5-2.7	2.2-2.4	1.8-2.0	blackish brown,	0.007
21	*Clitoria ternatea* L. सफेदअपराजिता Family - Fabaceae		Rectangular	5.0-5.3	3.2-3.4	2.0-2.2	brown	0.056
22	*Asparagus racemosus* Willd.		Pear - elliptic	3.5-3.6	2.5-2.6		black	0.040

	सतावर Family - Asparagaceae							
23	*Plantago ovata* Forssk. ईसबगोल Family - Plantaginaceae		Misc	2.1-2.4	1.2-1.5		Light brown	0.002
24	*Mucuna pruriens* (L.) DC. सफेदकेवांच Family - Fabaceae		Oval to globular	15-17.1	10-12.2	5.0-5.3	white	0.888
25	*Tribulus terrestris* L. गोखरू Family - Zygophyllacea e		Oval	5.1-5.5	4.2-4.4	3.0-3.2	Light brown	0.066
26	*Psoralea corylifolia* L. बावची Family - Fabaceae		kidney shaped	2-4	2-3	1-2	Light brown	0.021
27	सर्पगंधा *Rauwolfia serpentina* (L.) Benth. *ex* Kurz Family - Apocynaceae		Suboblongoid, one side flat and the other bullate	5.2-5.4	4.0-4.2	2.5-2.7	Cream - yellow	0.022

- Mean of ten observations

Acknowledgement

Authors are grateful to Mr. L.R. Thakur for assistance in compilation and typing work.

महुआ: आदवासियों के जीवकोपार्जन का एक महत्वपूर्ण साधन

डा. ननिता बेरी
कृषि वानिकी प्रभाग
उष्ण कटि बंधीय वन अनुसंधान संस्थान
जबलपुर

परिचय: महुआ जिसका वैज्ञानिक नाम मधुका इंडिका है, एक सदा बहार विशाल वृक्ष जो कि 'सेपोटेसी' परिवार का सदस्य है। सामान्यत: महुआ वृक्ष म. प्र. के साल और सागौन के वनों में पाया जाता है। महुआ फूल शर्करा (62 से 72 प्रतिशत) का अच्छा स्त्रोत हैं। इसके महत्वपूर्ण भाग फल, फूल, बीज, पत्ते एवं लकड़ी हैं। सामान्यत: प्रत्येक तीसरे साल में महुआ फूल की अच्छी फसल आती हैं। महुआ का पेड़ 12 से 15 साल के उपरान्त ही फल देना शुरू करता हैं।

महुआ फूल

उपयोग : महुआ फूल मार्च से अप्रेल माह में फलता फूलता है जबकि ग्रामीण कृषि कार्य से लगभग फुर्सत से रहते है और इस दौरान ग्रामीण स्रोतों से आय के साधन भी कम होते है। इस वक्त गरीब किसान महुआ फुलों को एकत्रित करते है और बहुत ही कम दामों (रू 5–6 प्रति किलो) की दर मे अदतिया या दलाल को स्थानीय बज़ार में बेचदेते है। महुआ फुल संग्रह करने वालों का कभी भी उचितमूल्य नहीं प्राप्त होता है। आज कल कई राज्यों में छोटे स्तर पर उन फूलों से देशी दारू बनाने का काम किया जा रहा है। महुआ फूलों के कई पोषक तत्वों के कुछ विटामिन जैसे राइबोफलोवन (87 मिलि.ग्राम) थरमीन (28 मिलि.ग्राम) एस्कोरबिक एसिड (17 मिलि.ग्राम) एवं नियासिन (4.8 मिलि.ग्राम), 17 अमीनोआसिड और मिनरलस रहते है इसलिये स्थानीय स्तर पर उपलब्ध संसाधनों का उचित उपयोग कर महुआ फुलों का संग्रहण और प्रसंस्करण कर इसकी गुणवत्ता को भी सुधारा जा सकता है और उत्पादनों में बढ़ोत्तरी करके ग्रामीण आदिवासियों को फायदा मिल सकता है, जिससे उनके आय का साधन भी बन सकता है और उनका पोषक स्तर भी सुधारा जा सकता है।

महुआ फूलों का प्रयोग ग्रामीण क्षेत्रों में सुखाकर खाने के लिए तथा देशी शराब निर्माण में होता हैं। महुआ बीजों में वसा की मात्रा अधिक होने से इसका प्रयोग तेल निर्माण में भी होता हैं। महुआ तेल का प्रयोग साबुन निर्माण में होता हैं।

संग्रहण :

मार्च माह में महुआ फलों का संग्रहण किया जाता हैं। संग्रहण से पहले महुआ वृक्ष के चारों ओर सफाई कर ली जाती हैं। ग्रामीणों द्वारा रात्रि में फूलों की सुरक्षा की जाती हैं, जिसके लिए

पेड़ों कै पास रात भर रहना पड़ता हैं । प्रातः काल महुआ के फूल एकत्र कर लिए जाते हैं । महुआ के सफेद फूल स्वयं गिरते रहते हैं या फूलों को डंडे से हिलाकर तोड़ लिया जाता हैं ।

प्रसंस्करण :

फूलों का गिरना लगभग तीन सप्ताह तक रहता हैं । प्रथम सप्ताह व अंतिम तीसरे सप्ताह में गिरने वाले महुआ फूल में नमी की मात्रा अपेक्षाकृत कम होती हैं अतः इस काल को कनुवा काल कहते हैं । मध्य में नमी अधिक होती हैं इसे भरवारी अंतराल कहा जाता हैं । एकत्रित किये गये महुआ फूलों को साफ करके फर्श में फैलाकर धूप में 4–5 दिन तक सुखाना चाहिए ।

भण्डारण : सूखे हुये फूलों को नमी रहित स्थान पर रखना चाहिए अथवा जूट के थैलों में पैक करना चाहिये ।

विपणनः मध्यप्रदेश एवं छत्तीसगढ़ महुआ फूल

महुआ गुल्ली

का प्रमुख बाजार है। अतः ग्रामीणों कीजानकारी के लिए उक्त राज्यों के प्रमुख जिले में साल 2014 में महुआ फूल का बाजार भाव चार्ट के माध्यम से दर्शाया जा रहा है। वर्तमान में महुआ फूल का बाजार पच्चीस से पैंतीस रुपये प्रति किलो चल रहा है (वन धन, 2014)।

महुआ फूल के संग्रहण से विपणन तक के विभिन्न चरण

संग्रह करना

↓

मार्च – अप्रैल माह में संग्रहण किया जाता हैं ।

↓

साफ करना

↓

संग्रहित फूलों को साफ किया जाता हैं ।

↓

सुखाना

साफ फर्श में फैलाकर 4 –5 दिन तक धूप मे सुखाना चाहिए ।

↓

भण्डारण

↓

नमी रहित स्थान पर और जूट के थैलो में भंड़ारण करना चाहिए ।

↓

विपणन

<u>**महुआ फुलो का उपयोग**</u>: आदिवासी अपने भोजन मे महुआ के सुखे फुलो से तरह तरह के व्यजन बनाते है, जो कि निम्नलिखित हैः

1. महुआ खीर
2. महुआ राइस केक
3. महुआ पन्जिरि
4. महुआ हल्वा
5. महुआ लाटा
6. महुआ खिचडी
7. महुआ पुरी

औषधि के रुप मे

1. पेट क़ी आन्तो के वर्म के उपचार मे
2. अस्थ्मा एवम खान्सी के उपचार मे

अन्य उपयोग मे

1. पशु के चारे के लिये
2. महुआ बीजो के तेल से बनी खली बनाने मे
3. देसी शराब मे

महुआ फूल के बाद महुआ गुल्ली का आना प्रारंभ हो जाता हैं । यह हरे रंग का कठोर आवरण वाला फल हैं । महुआ गुल्ली जून – अगस्त माह तक पक जाती हैं । महुआ गुल्ली की मॉग मुख्यतः उसमें उपस्थित तेल की मात्रा के कारण होती है।

महुआ फूल सुखाना

उपयोग : महुआ गुल्ली को पकाकर खाया जाता हैं। महुआ बीजों में वसा की मात्रा अधिक होने से इसका प्रयोग तेल निर्माण में भी होता हैं । महुआ तेल का प्रयोग साबुन निर्माण में होता हैं । गुल्ली को जनजातियों द्वारा स्वयं के लिए अथवा नकद आय हेतु विक्रेताओं को बेचा जाता हैं ।

संग्रहण : महुआ गुल्ली जून – जुलाई में पककर गिरने लगती है कभी – कभी इन्हें शाखायें हिलाकर गिराया जाता हैं 2 से 5 सप्ताह के अंदर महुआ के वृक्ष में फल पूरी तरह पक जाते हैं । पकी हुई महुआ गुल्ली को डंडे से तोड़ लिया जाता हैं ।

प्रसंस्करण : महुआ गुल्ली को संग्रहित करने के पश्चात् इसे पानी में लगभग एक दिन के लिए भिगोया जाता हैं जिससे गुल्ली का ऊपरी कठोर आवरण नर्म हो जाता हैं । इस आवरण को थोड़ा दबाव डालकर अथवा पत्थर से कूट कर अलग किया जाता हैं । इसके पश्चात् गुल्ली को लगभग दो दिन धूप में सुखाया जाता हैं । महुआ बीज व्यवसायिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं ।

महुआ फूल का विपणन

भण्डारण :– सूखी हुई महुआ गुल्ली का नमी रहित परिस्थिति में भण्डारण करना चाहिए ।

महुआ गुल्ली के संग्रहण से विपणन तक के विभिन्न चरण

संग्रहण :– इसका संग्रहण जून – जुलाई माह में किया जाता हैं ।

↓

सुखाना :– गुल्ली को तोड़कर गिरी अलग करना ।

फिर जमीन पर फैलाकर सुखाना तथा तेज धूप में 7 दिनों तक सुखाना चाहिए।

↓

भण्डारण :– नमी रहित स्थान पर तथा जूट के थेलों में भंड़ारण करना चाहिए ।

↓

विपणन

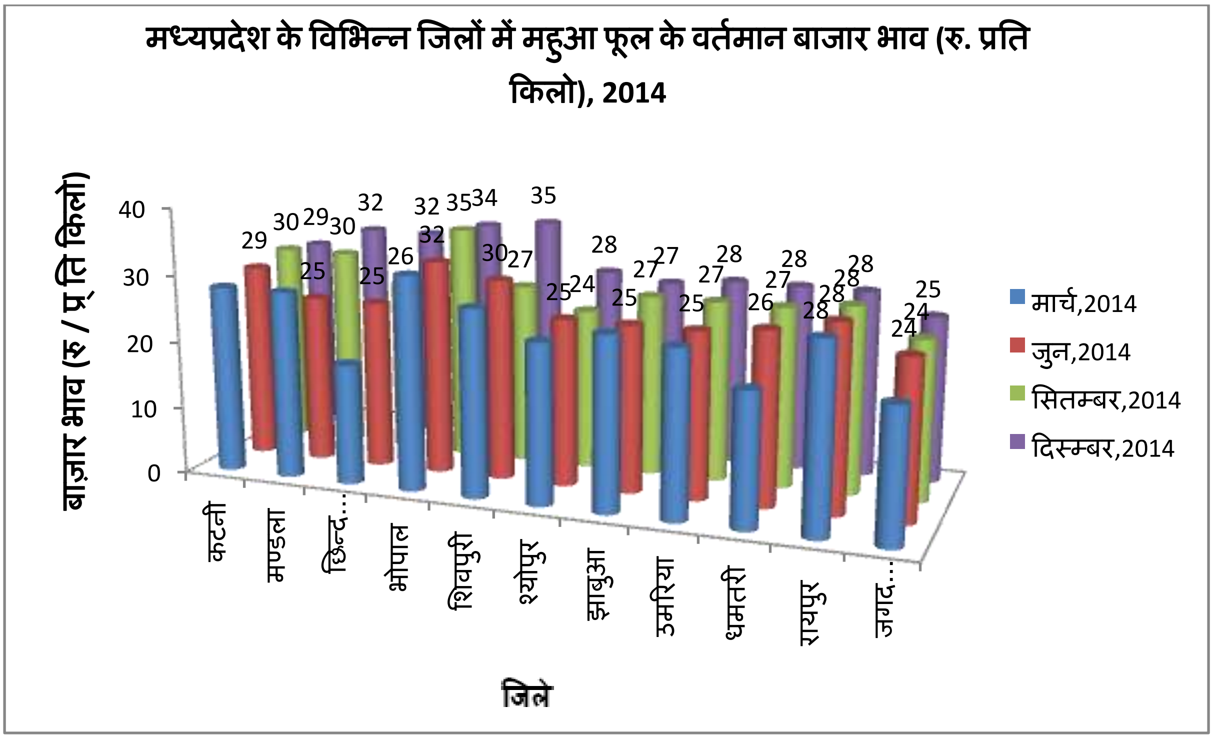

Spine gourd *Momordica dioica* (Roxb. ex. Wild) – The vegetable fruit in component of forest ecosystem

Dr. P.B. Meshram
Biodiversity & Sustainable Management Division
Tropical Forest Research Institute
P.O. : RFRC, Mandla Road Jabalpur-482021, M.P.

India is the largest producer of vegetables in the world next to China with an estimated production of about 50.09 million tonnes from an area of 4.5 million hectares at an average yield of 11.3 tonnes per hectare. India shares about 20% of cropped area on the country. Vegetables are not only adorn the table but also enrich the diet. The vegetables are the chief sources of vitamins and minerals which are highly essential for maintenance of health. Hence they are rightly called as protective foods. The demand of vegetables has been increasing fast in the urban areas with gradual rise in standard of living coupled with development of communication and transport facilities. It therefore, calls for major research and development effort to achieve supply of 300 g of vegetables per capita per day. While planning to boost up vegetable production, emphasis needs to be given to increase the area and per unit area production of some of the nutritionally rich vegetables, particularly those which can be grown in kitchen gardens. Cucurbitaceae family, viz. Cucumber, pumpkin, sponge gourd, ridge gourd, bitter gourd etc. are cultivated on commercial basis but one of the neglected fruit vegetables from the same family which is till now recognized only as wild vegetable is Spine gourd or Kakoda, *Momordica dioica* Roxb. Plants of this family are mostly used as fruits and vegetables. This lesser known species is now gaining importance owing to its high nutritive, medicinal and economic values.

Green fruits of spine gourd *momordica dioica*

Momordica dioica (Roxb.ex Wild synonym *Momordica sicyoides*; *Basella cordifolia)* commonly called Kakoda, Golkandra, Dhar Karela, Kheska and Ghosalphal. It is diocious plant i.e. male and female flowers are on different plants. It is a perennial climber emanating from

tuber which is a modification of stem. Tuber is dense and greyish in colour. Roots occur at lower portion of the tuber. Flowering period is July to September. Fruits 2-6 cm long ellipsoidal, shortly beaked, densely echidnae with soft spines, seeds many, 9 mm long broadly ellipsoidal slightly compressed and irregularly corrugated and enclosed in a red pulp muricated, burst irregularly when ripe. The seeds turn whitish to black as the fruit turns green to yellow on ripening. It occurs in India, Pakistan, Burma, Indochina, Southern China, Malaysia, Srilanka up to an altitude of 1500 m. In India it occurs in all states except in Kashmir. In forests, particularly degraded forests, it occurs wild. Occasionally it is found in wastelands and farm bunds in association with other hedge plants. *M. dioica* is seen growing wild in degraded forests and occasionally on farm bunds as a climbers to other existing plants in locations where the soil is well drained and rich in humus. This plant can also grown in kitchen gardens.

Spine gourd is high value wild edible vegetables with domestication potential. Being a component of forest ecosystems, it is adapted to partial shade and thus fit well in homestead farming ecosystems. Bitterless and deliciously flavoured, nutritionally rich and fetch a premium price in consumer markets. All parts of these wild plants are used in indigenous systems of medicine to cure various ailments. Attributed with health and nutritional qualities, the wild delicacies need to be popularized as vegetable crops. Spine gourd (*M. dioica*) is entities, eaten regularly by forest dwelling communities and tribals. It grows wild in scrub jungles in cenral India and lower Western Ghats grows wild in the forest openings in Western Ghats. It can tolerate partial shade, high rain fall and low sun shine hours, thus making them good choice as homestead vegetable crops. Tender fruits are esteemed as vegetables It also acts as a tastemaker when cooked along with other vegetables even in small quantities. Ripe and mature fruits also can be cooked in to various traditional recepies Compared to other cucurbits with the sole exception of bitter gourd, it can be seen that they are rich in calcium, phosphorous, protein and many other essential amino acids. Careful decortications of seed shell before sowing enhance speed and rate of germination. Seedlings may be raised in polybags and transplanted to pots or the main field before the monsoon sets in vegetable garden. It can also be used especially for grow bag cultivation. Spine gourd flowers open in the evening and flowers are sweetly musk-scented.

Spine gourd is pollinated naturally by specific species of moths, flies, stingless bees, ants and occasionally honeybees. Spine gourd fruits weigh around 18-25 g . On an average, 1.5 - 2 kg / fruits per plant in spine gourd. The dormant tubers should be protected from hot sun by covering with mulch or arranging pots or grow bags in a shaded place. Repotting and changing of soil with the addition of fresh dose of FYM should be attempted when tubers start sprouting, invariably before pre-monsoon rains in March. Tender fruits at the age of 10-12 days after pollination are the best vegetable stage for marketing and consumption. Thus, wild bitter gourd provides bitterless, highly nutritious and tasty vegetables during lean months. By virtue of their perennial nature, rattoon crops continue to yield for many years. Being adapted to forest habitats, they can fit very well in the homestead gardens thus fully utilizing the shade of other crops. The produce, being organic, tasty and highly nutritious, is expected to fetch a premium price in the market.

Harvesting

Fruiting sets in after 10 to 15 days of flowering. Only green fruits are used as vegetable. If fruits are not collected in time they get ripened and become yellow. Yellow fruits are not useful as vegetables, but they can be used for seed collection. While collecting plucking fruits climber should not be dmaged. A good kartoli climber gives 100 to 150 fruits in one growth cycle i. e. 2 to 2.5 kg. It is possible to take another crop of kartoli from the same area by gently uprooting the tubers lying dormant after harvesting the first crop, exposing the tuber to sunlight for one to two months and again planting in pits in the same ratio. If the second crop is planted in November, it shall gives fruits on regular watering up to next February.

Propagation

In view of the low germination percentage of seed nd scarce of tubers, some studies have been conducted on multiplication of this species by tissue culture which emplies rapid multiplication of desired elite plants in a short time under aseptic condition using plant parts like shoot tips, axilliary buds etc.

Insect pests

Sap sucker, Aphid are observed on this plant. The nymphs and adults suck the sap from the leaves and results in poor growth of plants. For controlling this pest, neem leaves extract can be used against this insect pest. Fruit flies damage spine gourd fruits, though a certain level of tolerance has been observed. Covering tender fruits with butter paper covers or poly bags may

be ideal for cosmetic look of fruits. Emerging larvae of *Epilachna* beetle damage the photosynthetic leaf area which may be controlled mechanically by handpicking or in large scale cultivation by spraying botanical pesticides i.e. neem based pesticides.

Nutritional value:

M. dioica fruits have high nutritional value and used as vegetable since ancient days. Fruits contain the following constituents.

Protein- 3g%; Fat- 1 g%; Carbohydrate - 7.7g%; Minerals - 1.1g%; Iron- 4.6 mg%; Calcium:- 33mg%; Phosphorus- 44 mg%.

Medicinal and other uses

It is less bitter, digestive, improves eye-sight and balances tridoshas. It is purifier of blood. Its leaves are tonic and helpful in treatment of respiratory diseases. Its tuber taken with water helps in dissolving the kidney stone. It is also used for cleaning nose. Roots aare used in bleeding piles, bowel affliction and urinary complaints. Powder of infusion of dry fruits if introduced in to nostril produces errhine effect and promotes a copious discharge from schneiderian mucous membrane. Juice of leaves mixed with coconut, pepper and red sandalwood makes ointment which relieves headache. The juice of fruit or tuber is also used to cure infections in the horns of bullocks. Indigenous communities consider them as health foods for curing piles and anaemia.

REFERENCES

Mohan, V.K. and Narnavar, S.D .(2002). Kartoli Spine Gourd- The Health Food. Green

Publication Mrs. Vibha Mohan 12, Vanraj Society (A) Takli Road, Nasik, M.S. 96 pp.

Know Your Biodiversity

Swaran Lata and Dr. P.B. Meshram
Tropical Forest Research Institute, Jabalpur

Sypheotides indica

Sypheotides indica is highly endangered bird commonly known as Lesser florican and likh. Lesser florican is monotypic species endemic to India. It is highly threatened because of hunting and habitat degradation. Previously it is widespread and found in most of lowlands of India but now it is restricted to small patches in Gujarat, Rajasthan, Maharashtra, Andhra Pradesh and Madhya Pradesh.

Lesser florican is member of bustard family. It is small sized bustard. Male is smaller than female. It has black head, slim neck, long bill and long legs. The breeding male has three pairs of black head plumes. Females and young ones are sandy buff with black crown stripes and dark stripe from the front to below the eye. Lesser floricans are omnivorus and feed on small worms, lizards, frogs, insects, ant, fruits, seeds, shoots. It breeds from July to September. Gujraat, Madhya Pradesh and Andhra Pradesh are main breeding area in India.

Sypheotides indica is found in tall grassland but sometimes also occurs in fields of cotton and lentils. *Sehima nervosum* and *Chrysopogon fulvus*, with scattered bushes and scrub are favorite place of these birds. This species has a small declining population because of loss and degradation of grassland habitat. Invasive plant *Mikania micrantha* is also causing serious impacts on its natural habitat. Difficient monsoon rains are also responsible for its declining population.

Lesser floricans are protected under Schedule I of the Wildlife Protection Act 1972 and its hunting and trapping is prohibited in India. In some parts of Madhya Pradesh and Rajasthan severe hunting of *Sypheotides indica* especially males for sport and food is also responsible for its decline. To preserve its breeding habitat two Lesser florican sanctuaries Sailana and Sardarpur, in Madhya Pradesh were established in 1983. Consevation of its natural habitat and ban

on its hunting is the only way to control its declining population.

Aythya nyroca is small diving *duck commonly known as* Ferruginous duck, Ferruginous pochard and White eyed pochard. It belongs to family Anatidae. The Ferruginous Pochard *Aythya nyroca* is widely distributed in Europe, Asia and Africa, but it has undergone declines in its populations and changes in distribution over the past few decades. In India it has been recorded form Manipur, Kerala, Delhi, Gujarat, Haryana, Jharkhand, Madhya Pradesh, Uttar Pradesh, Rajasthan, Uttrakhand and Himachal Pradesh.

Aythya nyroca

The bird has chocolate color body, dome shaped head and white triangular patch under the tail and white belly. Females and juveniles are same as male but dull brown in colour. Eyes are white in color. Beak is short giving peaked head and triangular appearance. The Ferruginous Pochard generally feeds on green algae, duckweed, molluscs, insects, frogs and small fish. They often feed at night.

Ferruginous duck is a winter visitor to the Indian subcontinent. They breeding habitats are marshes, ponds, dams and lakes. *Aythya nyroca* breeds from April – July. It lays 7-11 pale buff or yellowish grey eggs. This species has undergone a decline in population and change in its distribution in the last few decades because of loss of habitat, drought, overhunting, lead poisoning, climate change, acute eutrophication and human induced disturbances. Introduction of non native species is also changing ecological characters of of wetlands which is also responsible for its population decline.

Aythya nyroca is classified as 'Near Threatened' in the IUCN Red List. It is also been presented as a priority species in four prominent international conservation treaties i.e the European Union Bird Directive, the Bern Convention, the Bonn Convention, and the African Eurasian Migratory Water bird Agreement. Although protected by the laws this species is highly hunted in some parts of India. Systematic annual monitoring of *Aythya nyroca*, environment friendly management of fish ponds, formulation of strict laws and conservation of its natural habitat is the only solution to control its decreasing population.

Tropical Forest Research Institute

Published by:

Tropical Forest Research Institute
P.O. RFRC, Mandla Road
Jabalpur – 482021 M.P. India
Phone: 91-761-2840484
Fax: 91-761-2840484
E-mail: vansangyan_tfri@icfre.org
Visit us at: http://tfri.icfre.org or http://tfri.icfre.gov.in